

ओम

द्वितीय सोपान – अयोध्याकाण्ड

ओम तत्सदात्मने नमः

दो. – श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि।
वरनउं रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि॥

गोस्वामी जी दूसरे सोपान का प्रारम्भ करते हैं, तो फिर से एक बार याद दिलाते हैं कि साधक के मन का सुधार गुरु भगवान के चरण कमलों की रज को धारण करने से ही हो सकता है। उसी चरण रज से मन को निर्मल कर लिया जाय तब फिर भगवान के निर्मल चरित्र – उस मन के दर्पण में दिखाई पड़ेंगे – जो अपने अन्दर होते हैं। वे मानस के राम चरित अगर समझ में आ जायं, तो वही वास्तव में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, इन चार फलों को देने वाले हैं। मतलब है कि गुरुकृपा से ही वह ज्ञान, वह विवेक, वह क्षमता, वह युक्ति और कल्याण का वह रास्ता साधक को मिलता है जो उसको लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। बिना सद्गुरु से भेंट हुए वही हाल होता है कि –

अंधा अंधै ठेलिया, दोऊ कूप पड़ंत।

तो अगर सत्य से भेंट करना है तो असत्य संसार से चित्त को हटाना पड़ेगा। और आत्मोन्मुख होना पड़ेगा। और अगर संसारी रीति रवैया को छोड़ते नहीं, संसारी तरीके से ईश्वर को भी लेना चाहेंगे, तो वह पकड़ में नहीं आएगा। गोस्वामी जी कहते हैं – ‘छूटइ मल कि मलहिं के धोए।’ घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥’

इसलिए मूल को पकड़ना चाहिए। यह मानस है – इसका मतलब अन्तःकरण से है।

तो जब हम मानस के अर्थ में इस कथा का रूपान्तरण करेंगे, तब वहां यह कथा अलौकिक रूप ले लेती है। बाहर से गोस्वामी जी ने लौकिक रूप लिया है यह अच्छी बात है। क्योंकि लौकिक के बिना अलौकिक को कहना – बताना संभव नहीं है – जैसे अंधेरे के बिना प्रकाश का ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिए संसारी तरीके से पूरा चरित-भगवान का मानव चरित-दिखाते जा रहे हैं। जन्म-विवाह-बारात सब दिखाया, जैसे समाज में होता है। तो यह ध्यान देना चाहिए कि यह सब तो घर-घर में हो रहा है, शादी-ब्याह। इसे क्यों लिखा गया? यह तो सब लोग जानते-समझते

ही हैं। तो असल मतलब इसके लिखने का यही है कि इसी के माध्यम से कल्याण का मार्ग बताना चाहते हैं गोस्वामी जी। इस राम चरित के जरिए मानस की प्रक्रिया को बताना चाहते हैं – यही उद्देश्य है उनका। तो मूलतः यह मानस की संरचना है। यह हर साधक के अन्तर्जगत में आने वाली बातें हैं।

जब ते राम व्याहि घर आए।
नित नव मंगल मोद बधाए।
भुवन चारि दस मूधर भारी।
सुकृत मेघ बरसहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।
उमंगि अवध अंबुधि कहुं आई॥

अब यहां से साधक की साधना में एक टर्न आता है – एक मोड़ आता है। साधना में प्रगति होती जाती है और एक अवस्था ऐसी आती है कि अपने पास ताकत आ जाती है। शक्ति-सीता मिल जाती है। तो जब सीता का वरण कर लिया। चारों भाइयों के साथ उनकी प्रशक्तियाँ आ गईं तब फिर मंगल और मोद छा गया – इस शरीर रूपी अवध के अन्दर सब रिद्धियाँ-सिद्धियाँ आने लगती हैं एक एक करके – रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमंगि अवध अंबुधि कहुं धाई॥ दसो इंद्रियों और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – इन चौदहों भुवनों में सुकृत जन्य सुखों की वर्षा होने लगी। योग-साधना के फलस्वरूप साधक के अन्दर ऐसी अवस्था आती है। फिर उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये चौदहों ईश्वरीय कर्तव्य में ही लगे रहते हैं। ऐसे ही कार्य सुकृत हैं, सुख के देने वाले होते हैं। संसारोन्मुख कार्य बंधन बनते हैं। दुख देने वाले हाते हैं। इसलिए जिसे साधना करनी है, उसे सद्गुरु का आश्रय लेना चाहिए। गोस्वामी जी कहते हैं-

जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं।
सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहंसि मृदु बानी॥
नाथ राम करिअहिं जुवराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू॥
मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥
प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाही। यह लालसा एक मन माहीं॥

स्थूल अनुगत इंद्रियों में सजातीय भावना युक्त चेतन का प्रतिबिम्ब दशरथ है। वशिष्ठ है विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान, गुरु है। तो दशरथ कहता है कि मेरे रहते राम को अयोध्या का युवराज पद दे दिया जाय। शरीर स्तर पर ही साधक को आरुढ़ रखना

चाहती हैं इंद्रियां। उसे तो अभी आगे सूक्ष्म की साधना करनी है। स्थूल से हटकर सूक्ष्म में प्रवेश करना है – अवध को छोड़कर वनवास में जाना है। अभी बहुत काम बाकी है, अभी कैसे राजा बन जाएगा? इसलिए वशिष्ठ से जब दशरथ ने यह इच्छा जाहिर की कि राम को युवराज बना दिया जाय, तो उन्होंने कहा कि,

सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होंहिं जुवराज।

वही कल्याणकारी समय होगा, जब साधना पूरी हो जाएगी और वास्तविक राजगद्दी मिल जाएगी। स्वरूप-स्थिति मिल जाएगी। वह राज्य वह परमात्म पद – मिल जाय, तब राजा हो जाता है। उसके लिए जो प्रक्रिया है वह पूरी करना है। अभी तो उस पूरी प्रक्रिया से होकर गुजरे नहीं। प्रैक्टिकल में पूरा हुआ नहीं – और राजा बनाने लगे लोग। काम, क्रोध आदि दुश्मन अभी मरे नहीं, पहले ही राजा बनाने चल दिये। तो कर्तव्य रूपी कैकयी को क्षमता है। और मन को थरती है जो, वह बुद्धि की प्रशक्ति मंथरा है। जो कर्तव्य में मन को स्थिर कर देती है – साधक के अंदर की वह इमेंसिपेशन, ऐसी जो मंथरा है। उसको, लगा कि यह गलत हो रहा है। ऐसा तो कभी हुआ नहीं। बिना सूक्ष्म की साधना के राजगद्दीतो होती नहीं, फिर क्यों सजावट हो रही है? यह कैसे हो सकता है? अभी तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर सब पड़े हुए हैं, और अंतःकरण में यही सब दुर्गुण राज्य कर रहे हैं। शरीर में आसक्ति लंका है, मोह रावण है, क्रोध कुंभकरण है। अभी ये मरे नहीं। अभी उन्हें मारने के लिए राम को आदेश हुआ नहीं, और यह गलत काम कैसे हो रहा है? तो उसने हल्ला मचाना शुरू किया। और रात भर में उसने कर्तव्य रूपी कैकयी को बदल दिया। कैकयी ही एक ऐसा तत्व है, जिसने राम को, श्रेय के मार्ग में, सबसे ज्यादा मदद दिया। और राम को बचा लिया। अगर कच्ची अवस्था में, साधक महंत बन कर बैठ जाय, और गाइड का काम करने लगे, तो धोखा हो जायगा। इसलिये यह अधूरे में कैसे काम हो रहा है? तो फिर जब होश आया, तो अब राम चले जाएंगे वनवास में – अन्तर्जगत में साधना होगी। अभी तक स्थूल की साधना थी, अब सूक्ष्म की साधना होगी, तो जब उसमें प्रवेश करेगा साधक, तो अवध में – शरीर में, यहां भरत-भाव का राज्य रहेगा। भाव सदा बना रहे, भगवान के ऊपर, राज्य करते हुए, महात्मा का रूप धारण करके। ऐसा जो भाव आ जाय बाहर। और अंदर प्रवेश हो जाय मेडिटेशन में, श्वासा के अजपा जाप में, तो मानो वनवास हो गया। तो फिर वहां ऋषियों से मिलना है, ऋषियों से आशीर्वाद लेना है। और बड़े-बड़े सत्संगों की एडजस्टिंग करनी है। और जो राक्षस छिपे बैठे हैं- उन्हें एक-एक करके निकाल-निकाल कर मारना है। जो अंतःकरण में बैठे हैं। अभी तो

उनको छुआ ही नहीं गया। अभी इस पीरियड में साधक साधना में लगा रहा, कि हमें वह औजार चाहिए जिनसे हमें लड़ना पड़ेगा। वह ताकत चाहिये, कितनी बड़ी ताकत लगेगी। यह सब इंतजाम करने में इतना समय लग गया। और अब समय आया है कि आगे की साधना पूरी करना है। तो भाव कहते हैं भरत को। अब उसका टाइम आ गया। जब अंतःकरण में ऐसा आया, कि मेरे पास शक्ति हो गई। तो अब मेरा राम राजा हो जाय, सुप्रीम हो जाय, श्रेष्ठ हो जाय, क्योंकि जिसके पास जानकारी आ जाती है, क्षमता आ जाती है, उससे रहा नहीं जाता, वह बता ही डालता है अपनी योग्यता। तो इस तरह से राजतिलक की तैयारी होने लगी। जब साधक के पास ताकत आ गई तो सोचता है महंत बन जाओ। क्षमता आ गई तो उपदेश किया जाय यही सब तो होता है। तो अब यहाँ से थोड़ा मुड़ता है साधक। उसको महात्मा लोगों ने इनर्जी इसलिये दिया है कि दुष्टों को मारना है। विश्वामित्र गुरु रूप में, योग के रूप में जनक आदि ने यह प्लान किया है कि इन दुष्टों को मारना है जो अंदर बैठे हैं। उसके लिये तैयारी थी, जिसके लिए भगवान का जन्म हुआ था। यह प्रण था पहले से कि हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। इन दुष्टों को मारकर धरती का भार उतारना है, इस घड़-धरती को निश्चिंन हीन करना है।

लेकिन यहाँ जो ये सामाजिक-व्यावहारिक मान्यताएं हैं, ये मटिया मेटकर देती हैं। जहां थोड़ा आगे बढ़ा, कि साधक समाज के रगड़े-झगड़े में पड़ जाता है। और उस की साधना को वहीं रोककर यह ताकत की गर्मी ऊपर आ जाती है। और भजन में न लगकर, वह अपने लक्ष्य से हटने लगता है। वहीं की वहीं उसकी साधना रुकना चाहती है। यह बड़ा खतरनाक काम है। अगर ऐसा हुआ, तो वह साधक बर्बाद हुऐ बगैर नहीं रह सकता। इसलिए भाव की जरूरत है। भगवान के लिए भाव बना रहे। यह जरूरी है। ऐसे में भाव ही काम करेगा। इस तरीके से भाव भरत का रोल आ गया। अब भाव रूपी भरत की प्रमुख भूमिका रहेगी। तो यह सब साधक के अन्दर आने वाली बातें हैं। साधक का भगवान में भाव था, और भव की तरफ ले जाने वाली भावना भी, भीतर ही भीतर बन रही थी। तो साधक को भरत (भाव)ने बचा लिया और वह आगे आ गया। भरत को महान दुःख और जिन्दगी भर ग्लानि सहना पड़ा, और साधक यहाँ बच जाता है, उसको वनवास मिल जाता है, निवृत्ति मार्ग में आगे बढ़ने का मौका मिल जाता है। अब यहाँ त्याग की जरूरत है। कहते हैं -

असंपृक्तम् कथं साधुकुरुषा किं पतिव्रता।'

जिसको कोई कुछ देना नहीं चाहता है, वह कहता है हम त्यागी हैं। आज तक हमको किसी ने कुछ नहीं दिया और न हमने किसी को कुछ दिया इसलिये हम परम त्यागी हैं। और जो स्त्री कुरूप है, कोढ़िन है, और जिसे कोई छूना भी नहीं चाहता। वह कहती है कि हमसे कोई शपथ ग्रहण करा ले, हमने कभी पर-पुरुष से भेंट नहीं की, इसलिये हम पतिव्रता हैं। तो वह पतिव्रता की डिग्री, और वह त्यागी की डिग्री, ऐसों के लिए प्रयुक्त किया जाय, तो क्या यह उचित है? उचित तो यह है कि जो सर्वगुण सम्पन्न स्त्री हो, सुन्दरी हो, अच्छी हो, अवस्था ठीक हो। फिर वह पर पुरुषों से बचे, वह है पतिव्रता। और जिस आदमी को सब कुछ मिला हो, और फिर वह त्याग करे, उस वैभव में लात मारे, तब वह त्यागी कहलायेगा। तो साधना में एक यह अवस्था ऐसी होती है, कि जब शक्ति संयोजित हो जाती है, तो उसे पाकर उपभोग में नहीं लगाना है। भव की तरफ नहीं लगाना है। उसे भगवान के काम में लगाना है। तो ऐसे तरीके से यहाँ दसों इंद्रियाँ दशरथ हैं, कर्तव्य रूपी कैकई है, मन को थरने वाली बुद्धि मंथरा है। हर इंद्रिय पर अधिदैव हैं, इनकी रुचि पूरी न होने से, इनकी माँग पूरी न होने से, यह सब देखते रहते हैं। क्योंकि यह सब शुरु की श्रृंखला में खड़े हुए हैं। जब भगवान से प्रार्थना हुई थी और भगवान से यह वचन ले लिया गया था, कि मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। कि निर्भय होहु, देव समुदाई। और ब्रह्मा के द्वारा आदेश हुआ था कि 'बानर तन धरि धरि धरनि, हरिपद सेवहु जाइ।।'

‘तुम सब देवी-देवता जाओ। मौका लगा लगाकार भविष्य देखकर बंदर का रूप धारण कर लो। ब्रह्मज्ञान का रूप धारण करके पहुँचो साधक के अन्दर। अब मैं आता हूँ। तुम्हारे दुःख दूर कर दूँगा।’ यह शुरु-शुरु में प्रण हुआ था। इसी के लिए ब्रह्मज्ञान युक्त होकर साधक ने एक तो अविद्याकृत सब छोड़े थे पहले। फिर साधना करने से जो शक्ति मिली है, तो विद्याकृत परिवार बन गया है अब उसका। लेकिन वह भी माया ही है। माया दो तरह की होती है। एक अविद्या दूसरी विद्या। अविद्या बड़ी खतरनाक होती है – वह नहीं छुटाये छूटती।

हां तो देखिये, जब राम को वन जाना पड़ा, तो पूरे अवधवासियों को – पूरे शरीर के अन्दर के वासियों को – कितना अपार दुःख हुआ? दस इंद्रियों को नष्ट होना पड़ा। दशरथ की मृत्यु के रूप में इन्द्रियों की संसार उन्मुखता समाप्त हो गई। दशरथ की डेथ हो गई और सब लोग दुःखी जर्जर रह गए। इस प्रकार जब यह सब स्थूल के संबंधी कमजोर और शिथिल हो गये, तब जाकर सही रूप में भजनोन्मुख हो पाये। तो कैकई के अत्नावा इस कार्य की श्रेयता और किसी को नहीं जाती।

हमारे अंदर जो कर्तव्य भावना है, उसमें अनुगत जो प्रसक्ति है, वह है कैकई। तो उसने बड़ी दक्षता और योग्यता से साधक के लिए सही दिशा निश्चित की, कि यह है तुम्हारा कर्तव्य। इधर चलो, यह तुम कहाँ चले जा रहे हो? कैसे तुम भ्रष्ट होने जा रहे हो? यह तुम्हारा धर्म नहीं है। मन को थरने वाली – सही रास्ते पर लगाने वाली – जो बुद्धि है, वह मंथरा। वह अकड़ गई। बोली, ‘यह क्या तमाशा रच गया है अवधमें? हल्ला मचा है कि राम का राज तिलक हो रहा है। तो ऐसे कैसे हो जायेगा राम राजा? मेरा भरत राजा होगा। राम कैसे हो सकता है? वह अकड़ी घूम रही थी। सब लोग उसको धकिया रहे थे, और कह रहे थे कि क्या बक रही है यह कुबड़ी सुबड़ी? लेकिन इस पर भी वह मानी नहीं। वह लगी ही रही, कि मेरा भरत राजा होगा, राम राजा नहीं होगा। यह गलत हो रहा है। अन्याय हो रहा है। तो इस तरीके से वह मंथरा अकेली एक तरफ, और सारे अवधवासी उधर एक तरफ। वह लड़ते-लड़ते थक गई। फिर उसने कर्तव्यरूपी कैकई को पकड़ा। वह पहले से राम की पक्षधर थी राम की बड़ी भक्तिन थी, क्योंकि अनादि काल से राम को भजती थी। राम में आस्था थी। कर्तव्य में जो प्रसक्ति है, वह विद्या है। विद्या कभी अविद्या का काम नहीं करती। तो उसकी राम पर बड़ी आस्था थी, वह मंथरा का कहना ही नहीं मानती थी। और मंथरा को अंतर्जगत से, सुरों से देवों से संकेत मिले थे। उन दैवी संकेतों को उसने पकड़ लिया था। वह बुद्धि है मंथरा। मंथरा के रूप में सरस्वती काम कर रही थी बदलने में लगी थी। साधक के मन को थर रही थी कि ईश्वरीय कर्तव्य करे – संसारोन्मुखता से छूटे। तो जब उसने अपनी बात बताना शुरू किया, तो पूरी अयोध्या के लोग उसके अपोजिट हो गये। अवधवासी नर-नारी, मंत्री-शंतरी, महात्मा जितने लोग थे, नगर के, राज परिवार के, सब एक तरफ और अकेली मंथरा एक तरफ। तब भी उसने रात भर में सब उलट-पलट करके रख दिया। तो भगवान की वाणी जो साधक को अन्दर से मिलती है – जो आकाशवाणी होती है? देववाणी होती है – उसको पकड़ कर जो साधक आगे बढ़ता है, वह सफल होता है। ‘गई गिरा, मति फेरि।’ इसलिए वहां साधक की मति रूपी मंथरा सफल हुई। ईश्वरीय डाइरेक्शन (निर्देश) तो यह है, कि जिसके लिए आये थे राम, वह काम उन्हें करना है। उसे तो बीच में ही छोड़े चले जा रहे हैं। तो यह कहाँ जा रहे हैं भोग के लिए। अगर राजा बन जायेंगे, तो इस राज-भोग से बड़ा नरक और क्या होगा? प्रापटी का भोग करो, मस्ती काटो, शासन करो। इसके लिए उसे यह इनर्जी नहीं मिली। यह तो मिली है कि जो अनेक जन्म के पापों के पुंज अंदर बैठे हैं। और यह जो शरीर में दिखाई नहीं पड़ती – आसक्ति रूपी लंका बन गई है। संसार रूपी

समुद्र बन गया है। विषय रूपी पानी भरा है। मोह रावण, क्रोध कुंभकरण, काम मेघनाद - ये तमाम दुर्गुण इसमें जमावट ले चुके हैं। उनका आतंक छ गया है। उनको मिटाने-मारने के लिए यह अवतरित हुए थे। और उसी काम के लिए यह इजर्जी मिली है सीता के रूप में। और अभी तो ये आततायी शरीर के अन्दर सजातीय अवयवों को नष्ट करने में लगे हुए हैं। इनको समाप्त करना राम का धर्म है। सत्य की स्थापना करना उसका धर्म है। और यह क्या है? यह तो क्षमता का उपभोग संसार में करने जा रहे हैं। तो यहाँ भरत जो है वह साधक के अन्दर भाव का प्रतीक है। भाव रूपी भरत से ही संसार पलता है - भावो हि भवकारणम्। चाहे ऐसा कहा जाय कि,

‘विश्व भरण पोषण कर जोई।

ताकर नाम भरत अस होई।।’

इस तरह एक तरफ यह भाव-भरत सांसारिक धर्म का भी आधार बनता है, और दूसरी तरफ-भाव वश्य भगवान भी है। यह भगवान की भक्ति का भी आधार है। दोनों भव और भगवान के बीच भरत का काम है। यह कर्तव्य की प्रशक्ति रूप कैकई से उत्पन्न होता है। ईश्वरीय कर्तव्य और सांसारिकता कानिर्वाह, दोनों भाव-आधारित रहते हैं। इसलिए कहा गया है कि -

भरत भूमि रह राउर राखी।

इस तरह से भाव आदमी के अन्दर एक बहुत सबल और व्यापक तत्व है। भाव रूपी भरत ही राम के बनवास का मुख्य हेतु बनता है। राम का 14 वर्ष का वनवास आध्यात्मिक साधना का चित्रण है। दस इन्द्रियां और चार अतःकरण ये 14 अध्यात्म हैं। इन 14 की पूरी साधना होती है। इसी आध्यात्मिक साधना के रूप में वनवास का कार्यक्रम चलता है। और यह दुर्गुणों को नष्ट करने के लिए उपायभूत होता है। सद्गुणों की विजय कराई जाती है। विभीषण रूपी जीव का उद्धार होता है। और जो परवश था काम क्रोध, लोभ आदि के बीच में घुसा हुआ है हर आदमी के भीतर - यह साधना पूरी हो जाती है, तो इसका कल्याण हो जाता है। यह जीव रूपी विभीषण राजा बन जाता है। स्ववश बन जाता है। ईश्वर बन जाता है। ‘परवसजीव स्ववस भगवंता।’ ईश्वर स्ववश है, सर्वत्र है। सबके ऊपर है। जीव परवश है। तो जीव कोटि उसकी हट जाती है। और जिन्होंने परवश इसको बना लिया था, उनको नष्ट कर दिया जाता है। यही साधना का परम ध्येय है।

दो. राम राज अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर नारि।

लगे सुमंगल सजन सब, विधि अनुकूल विचारि॥

ये शरीर के जितने अवयव हैं, ये ही अवध के निवासी हैं। साधक की स्थूल में जो आसक्ति रहती है, वह जल्दी जाती नहीं, यही इनका लगाव है राम के प्रति - इन अवध वासियों का। ये सब इसी बात पर खुश रहेंगे कि हमारे क्षेत्र में ही रहे साधक। यहीं अवध में राज करें राम, तो हमें आनन्द रहेगा। तो साधक अगर शरीर स्तर पर ही अटक कर रह जाय- खाने, सोने, नहाने, पूजा, आरती, तिलक-मुद्रा आदि बाहरी स्थूल क्रियाओं में ही लगा रहेगा, तो सूक्ष्म स्तर की साधना में प्रवेश नहीं कर पाएगा। इन्हीं बाहरी क्रिया-कर्मों में लगा रहेगा। इन्हीं का पालन-पोषण करता रहेगा। इसलिए जितने स्थूल के अवयव हैं, ये सब खुश हैं, और इसी की तैयारी कर रहे हैं। साधक को एक स्तर पर इन स्थूल साधन-प्रक्रियाओं को उपेक्षित करके आगे की साधना करनी है इसलिए इनको हर हालत में छोड़ना ही पड़ेगा। जबकि ये सब जल्दी छोड़ते नहीं। जब छूटेंगे, तब दुखी हो जाएंगे, मुड़झा जाएंगे। अभी सब खुश हैं।

दो. - नामु मंथरा मंदमति, चेरी कैकड़ केरि।

अजस पिठरी ताहि करि, गई गिरामति फेरि॥

दीख मंथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥

राम के राज्याभिषेक का प्रसंग वाह्य संसारी ढंग से और अन्तर्जगत में साधनात्मक ढंग से बहुत बढ़िया लिखा है गोस्वामी जी ने। संसार के तरीके से राज्याभिषेक की तैयारी साज बाज, उत्सव और उल्लास को सुन्दर ढंग से लिखा गया है। लेकिन इसमें देवता लोग विघ्न उपस्थित कर देते हैं। तो यह जो देवताओं की समाज-मनुष्यों की समाज में मिला दी गई है। और कहीं बंदर, कहीं भालू, कहीं गीध, कहीं राक्षस। यह सब बातें सांसारिक दृष्टि से अस्वाभाविक लगती हैं। परंतु आध्यात्मिक तरीके से एकदम सही बैठती हैं सब। तो देवताओं की प्रार्थना पर मंथरा की बुद्धि खराब करने सरस्वती वहाँ गई। ऐसा तो भौतिक जगत में बाहर होता नहीं। उधर घर का आदमी भरत बाहर ननिहाल में है। संसार में तो लोग अपने रिस्तेदारों को, मित्रों को, सबको बुलाते हैं ऐसे उत्सवों में। तो फिर भरत का न रहना भी थोड़ा अस्वाभाविक सा लगता है।

असल में ये बातें साधनात्मक हैं, साधक के अन्दर ही सब हो रहा है। और यह मंथरा, सरस्वती, भरत, स्वर्ग, देवता, राक्षस, सब वहीं अन्तर्गत के विभिन्न अवयव

हैं। ऐसा समझ लिया जाय तो अस्वाभाविक लगने वाली बातों की एडजस्टिंग हो जाती है। यह प्रसंग साधक के अन्तःकरण की उस अवस्था का है, जब वह साधना के एक स्तर को पार कर चुका है, और उसे क्षमता मिल गई। त्रिभुजन जय समेत वैदेही मिल चुकी है। यह देह वाली सीता नहीं, वैदेही। अलौकिक शक्ति मिल चुकी है। सीता रूपी क्षमता को प्राप्त कर लिया है। और एक क्षमतायुक्त साधक के रूप में उसे मान्यता मिल गई है। और भी दिव्यास्त्र रूप युक्तियाँ और अलौकिक विद्याएं मिल चुकी हैं। इस तरह से उसमें बहुत क्षमता आ गई है। सीता शक्ति का वरण किया है, तो स्वाभाविक है कि मन में उल्लास होगा। यह जो अयोध्या का उत्सव यहाँ दिखाया गया है - अन्दर के उल्लास का बाहरी चित्र है। साधक में जब क्षमता आई, और अगर वह उसका उपयोग करना चाहता है, तो साधना के नियमानुसार यह ठीक नहीं है। उचित तरीका तो यह है कि साधना की प्रगति में ही उसका सदुपयोग करे। सुखोपभोग में न रह जाय। राम को सब लोग युवराज पद देना चाहते हैं। यदि राम अभी से राजा बनकर अयोध्या के सुखविलास में रह जाए, तो फिर जो उसका काम है कि -

असुर मारि थापहिं सुरन्ह,

राखहिं निज श्रुति सेतु।

जग विस्तारहिं सुजस बहु

राम जनम कर हेतु।।'

जिस काम के लिए पैदा हुआ है - वह सब काम तो अभी हुआ नहीं है। यह सब कैसे पूरा होगा? तो जो साधक अभी स्थूल स्तर की साधना करके थोड़ा आगे बढ़ा है और उसे महंत बनाकर गद्दी में बैठा दिया जायगा, तो आगे की साधना रुक जाएगी। अधूरा रह जाएगा। अधूरे में ही गद्दीधारी महंत या बड़ा महात्मा बनकर पुजवाने लगना ठीक नहीं है। इसलिए साधक को ऐसी स्थिति में सावधान होना चाहिए, कि वह उस क्षमता का उपयोग करने में न लग जाय - उस उपभोग वाले अवसर का त्याग करके, अर्जित क्षमता का उपयोग आगे भी साधना में करे। राम के वनवास की जो भूमिका यहाँ तैयार हो रही है, वह साधना के अगले स्तर में प्रवेश करने की भूमिका है - साधकों के लिए। साधना के तीन स्तर हैं - स्थूल स्तर की साधना, सूक्ष्म स्तर की साधना, कारण स्तर की साधना। मानस के हिसाब से वनगमन के साथ ही सूक्ष्म की साधना शुरू हो जाती है। अभी तो स्थूल स्तर की साधना पूरी हुई है। इसलिए साधक के अन्दर जो सहयोगी भाव हैं - ईश्वरीय क्षेत्र

के, वे देवता अर्थात् अन्दर के सद्गुण, ज्ञान, वैराग्य, विवेक, संतोष, क्षमा आदि अथवा अच्छे संस्कार-सत्कर्म, ये देवता हैं। सजातीय भाव जितने हैं। ये सब नहीं चाहते कि साधना यही अवरुद्ध हो जाय। इसलिए अभिषेक ठीक नहीं लगा देवताओं को। तब सरस्वती को प्रेरित करते हैं। तो भजन में लगा हुआ साधक जब किन्हीं कारणों से पतित होने की स्थिति में आने को होता है - अन्दर से लड़खड़ाने लगता है, तब भगवान उसे संभालते हैं, अपने तरीके से। भगवान अन्दर बैठे सब देखते रहते हैं और जहां गड़बड़ी आई तो संकेत दे दिया और विद्यामाया काम बना देती है। ये देवता, सरस्वती सब विद्या के अवयव हैं। इनकी मदद से साधक की बुद्धि काम कर जाती है, मंथरा के रूप में। कर्तव्य भावना को जगाती है - ईश्वरीय कर्तव्य के लिए प्रेरित कर देती है साधक को। मंथरा कर्तव्य रूपी कैकयी को प्रबुद्ध करती है - उसे विश्वास में लेती है और वनवास रूपी सूक्ष्म की साधना के लिए साधक के अन्दर इस प्रकार से भूमिका बन गई। राज्याभिषेक के रूप में जो अवरोध सांसारिक ऐश्वर्य भोग का आ रहा था, वह हट गया। कैकयी ने दो वरदान मांग लिए। तो साधक के अन्दर ऐसी परिस्थिति में अगर बुद्धि सजग न हो, उसे अपने कर्तव्य (ईश्वरीय धर्म) का बोध न हो, तो निश्चित है कि वह अधूरे में ही रह जाएगा। क्योंकि साधना का अभी तो बहुत बड़ा हिस्सा बाकी है। अभी तो रावण आदि सारे राक्षस मारने हैं - ये जो मन के अन्दर के काम क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार हैं, अगर इन्हें नहीं खत्म किया गया तो राम राज्य कैसे होगा? इसलिए हमारे विचार से तो कैकई ही सही है। यह भीतर और बाहर की दुनिया एक दूसरे से उल्टी है। कैकयी को बाहर संसार में लोग अच्छा नहीं मानते- लेकिन विचार करो कि अगर कैकई ने ऐसा न किया होता तो राम की कथा कैसी होती? तो बाहर की दुनिया ऐसे ही उल्टी चलती है। अन्तर्जगत में कर्तव्यपरायणता कैकई है। इसलिए प्रशंसनीय है, कि साधक को कल्याण के मार्ग पर ले जाती है। अपनी रामायण में गोस्वामी जी ने जो लोकमत और वेदमत की बात की है - उसे हमें मानना चाहिए। जो लोग संसारी क्षेत्र में हैं, उन्हें लोकमत की बातें लेना चाहिए। और जो लोग ईश्वरीय क्षेत्र में, साधन-भजन में लगे हैं, उन्हें वेदमत वाली बातें समझना ठीक रहेगा। वेदमत का मतलब अध्यात्म से है। अध्यात्म अन्तर्जगत से संबंधित है - जिसे हम मानस कहते हैं। तो साधक को चाहिए कि मानस की बातों को अपने मानस में लेते चलें।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नार्हीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पार्हीं ।।

दुइ वरदान भूपसन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती ।।

सुतहिं राजु रामहिं बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥
भूपति राम शपथ जब करई। तब मांगेहु जेहिं बचनु न टरई ॥
होई अकाजु आजु निसि बीते। बचन मोर प्रिय मानहु जीते ॥
दो. - बड़ कुचाल करि पातकिनि, कहेहु कोपगृह जाहु।

काजु संवारेहु सजग सबु, सहसा जनि पतियाहु॥

मंथरा ने बताया कैकई को, कि दो वरदान - की यह थाती रखी है तुम्हारी, राजा दशरथ के पास - वह अपनी थाती उससे मांग लो। थाती कहते हैं कि जैसे तुमने अपनी कोई चीज किसी के पास रखदी, कि लो इसे रख लो जब जरूरत होगी तब ले ली जायगी। तो वह तुम्हारी चीज है, चाहे जब मांग लो। कहते हैं जब देवासुर संग्राम हुआ था, तब राजा दशरथ भी इन्द्र की तरफ से लड़ाई में शामिल हुए थे, और कैकयी भी साथ में रही। तो बताते हैं कि दशरथ भारी संकट में फंस गए थे तब कैकयी ने मदद की थी। रथ का पहिया धुरी से निकल रहा था, तो कैकयी ने उसमें कीली की जगह अपनी उंगली लगा दिया और दशरथ को बचा लिया। तब दशरथ ने उसे दो वरदान देने को कहा था। तो वह कैकयी का कर्जा था दशरथ के ऊपर - ऐसी कथा बताते हैं पंडित लोग। पता नहीं कहां की लड़ाई, कहां का दशरथ, कहां का इंद्र? विचार करना चाहिए कि भौतिक रूप में - संसार के तौर तरीके से तो यह बातें बिल्कुल ठीक नहीं बैठतीं, देश-काल का कोई तालमेल नहीं बैठता। इसलिए हमारे विचार से यह आध्यात्मिक क्षेत्र की बातें हैं। साधक के अन्तर्जगत में यह संग्राम - यह सजातीय-विजातीय का संघर्ष तो शुरू से चला आ रहा है। तो जब वह आसुरी भावों से घिर जाता है, और अगर ईश्वरीय कर्तव्य को पकड़े हुए है - यह कैकयी साथ दे रही है - तो बचकर निकल सकता है। अगर कर्तव्य को भुला बैठे, भजन छोड़ बैठेगा, तो ये अन्दर के जो दुर्गुण हैं - ये षट्‌विकार वगैरह ये दैत्य घेरकर मार डालेंगे। वहाँ यह कर्तव्य रूपी कैकयी ही बचाती है। इसलिए इसका ऋण है उसके ऊपर। तो जब साधक की बुद्धि में यह बात बैठ जाती है कि ईश्वरीयकर्तव्य करने में ही कल्याण है; तो वह संसार की धारा में बहने से बच जाता है। बुद्धि रूपी मंथरा की बड़ाई बखान की गई है। वहां पर -

कुबरिहि रानि-प्राण सम जानी ।
बार-बार बड़ि बुद्धि बखानी ॥
तोहि सम हित न मोर संसारा ।
बहे जात कहं भइसि अधारा ॥'

अब किस तरह से मंथरा ने कैकई को वरदान मांगने के लिए प्रेरित किया और कैसे कैकई ने दशरथ से दो वरदान मांगे - ये सब बातें बड़े विस्तार से लिखी गई हैं। सामाजिक रीति रवैया को अपने काव्य में गोस्वामी जी हमेशा ज्यादा उभार देते हैं - आध्यात्मिक रूप से उनका विश्लेषण जब किया जाता है तो लोगों को समझने में दिक्कत आती है। सब लोग नहीं समझते, केवल वे लोग समझते हैं जो साधनारत हैं। बहुत गहरी और बारीक बातें बताना या लिखना इस तरह से ठीक नहीं रहता क्योंकि यह जो साधना का विषय है यह क्रियात्मक है। भजन करने से सब ज्ञान हो जाता है।

सुनहु प्राण पति भावत जीका। देहु एक बर भरतहिं टीका॥

मागउं दूसर वर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥

तापस वेष विशेष उदासी। चौदह बरस राम बनवासी॥

सुनि मृदु वचन भूप मन सोकू। ससिकर छुअत विकल जिमिकोवू॥

सजातीय कर्तव्य ही कैकयी है, यह बहुत प्रभाव रखती है। साधक को समय-समय पर बचाती है, गलती करने से। इसलिए इसका ऋण है दशरथ के ऊपर। देवताओं की प्रेरणा से सरस्वती के द्वारा मंथरा को माध्यम बनाया गया। पूर्व जन्म के पुण्य संस्कारों के प्रभाव से मंथरा-मनथरा अर्थात् इधर संसारसे हटकर ईश्वरीय कर्तव्य में स्थिर हुआ। कर्तव्य कैकयी ने तेजी पकड़ा और साधक को साधना की सूक्ष्मता में ले गई - इतनी है वनवास की कहानी। साधक सही दिशा में बढ़ गया। एक सीढ़ी ऊपर उठ गया।

‘सुतहिं राजु रामहिं वनवासू’ - ये दो वरदान मांगती है कर्तव्य रूपी कैकयी। तो मानव होने के नाते हमारे कर्तव्य की यही मांग है कि हम अपने जीवन में - इस शरीर रूपी अवध में - भाव रूप भरत को राजा बनाएं अर्थात् हमारा भगवदीय भाव सर्वोपरि रहे, सर्वेसर्वा बना रहे। दूसरी मांग है कि ज्ञान रूपी राम तापस वेष में विरक्त वृत्ति से चौदह वर्षों के लिए - दस इन्द्रियों और चार अन्तःकरण इन चौदह अध्यात्मों की साधना के लिए - सूक्ष्म जगत रूप वनवास में प्रवेश कर जाय। हमारा ज्ञान-ध्यान आत्मोन्मुख रहे। यह हर मनुष्य के अन्दर से कर्तव्य रूप कैकयी की मांग है। कर्तव्य की डिमाण्ड है। इसका अर्थ है कि ये दो काम सबके लिए जरूरी हैं, अवश्यकरणीय हैं। इन्हें वरदान कहा गया है। अगर ये दोनों काम सही ढंग से पूरे कर लिये जायं तो ये वरदान बन जाएंगे। सब कुछ दे देंगे। कल्याण कर देंगे। मानव-जीवन की सार्थकता कर्तव्य की इस मांग को पूरी करने में ही है। लेकिन यह

सहज नहीं है। यह इमेंसिपेशन आदमी के अन्दर जन्म-जन्म के पुण्य प्रभाव से पैदा होती है। कर्तव्यबोध हो जाय यह बहुत बड़ी बात है। हमारा जीवन जड़ और चेतन का गंठबंधन है - तत्त्वतः यह गंठबंधन है नहीं, फिर भी है।

‘जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूट कठिनई॥

मूलतः जीवात्मा चेतन है, परमात्मा का स्वरूप है, लेकिन शरीर में आकर बंध गया है - ऐसा मान लिया जाता है। जीवात्मा शरीरों से बंध जाता है। शरीर के संबंध से संसारी हो जाता है। दुखी हो जाता है।

‘जब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होय सुखारी॥

अब जब तक यह जड़ चेतन की गांठ नहीं खुल जाती, वह सुखी नहीं हो सकता। स्वरूपतः तो यह चेतन अमल सहज सुखरासी है; पर अपने स्वरूप-बोध के अभाव में दुखी है। अब यहां दो धाराएं जीवन की स्पष्ट हो जाती हैं - एक तो यह कि जीवात्मा शरीर आदि जड़ पदार्थों की ओर उन्मुख होकर बंधन ग्रस्त होता है। दूसरी धारा इसके विपरीत यह है कि आत्मस्वरूप को जाने, और ये शरीर इंद्रियां मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सब अत्मोन्मुख हो जायं और युक्तिपूर्वक साधना के द्वारा बंधनमुक्त होकर अपने स्वरूप में संयुक्त हो जाय। तो एक धारा - जो संसारोन्मुख है - अधोमुखी धारा है, आसुरी प्रवृत्ति वाली धारा है। दूसरी जो आत्मोन्मुख धारा है - वह दैवी वृत्ति - उर्ध्वमुखी धारा है। ऐसे तो सब जीव अधोमुखी धारा में बहे चले जा रहे हैं। केवल मानव शरीर धारी कोई-कोई देववृत्ति वाले पुण्यशील जीवात्मा संयोगवश उर्ध्वमुखी जीवन धारा में आ पाते हैं। ऐसे मनुष्यों को हम साधक कह सकते हैं। इन साधकों में किसी-किसी भाग्यशाली साधक के अन्दर यह कर्तव्यरूपी कैकयी मुखरित होकर ये दो वरदान मांग लेती है। जिनके अन्दर सत्कर्म और सद्गुण रूपी देवता सक्रिय होकर सरस्वती को (विचार शक्ति) को प्रेरित करते हैं। और उस पुण्यशील साधक की बुद्धि रूपी मंथरा, खूब विचार-मंथन करके कर्तव्य रूपकैकयी का प्रबोधन करती है। ईश्वरीय कर्तव्य में ले जाती है। उसका कल्याण अवश्य हो जाता है। यह बुद्धि रूपी मंथरा इस प्रकार बचा लेती है संसार की धारा में बहने से। इसलिए कैकयी ने वहां पर मंथरा के लिए कहा कि, “बहे जात कहां भइसि अधारा।” साधक जब कर्तव्य आरुढ़ हो गया, ईश्वरीय कर्तव्य में लग गया तो उसके भाव में व्यापकता आ जाती है, और सही समझ की एडजस्टिंग हो जाती है। उस ज्ञान के सहारे अपने पुण्य पुरुषार्थ से, सद्गुरुओं की कृपा से -

साधक प्रगति कर जाता है। और एक दिन आकाशवत् निर्लेप आत्मस्थिति को प्राप्त कर लेता है। भगवान बन जाता है - अलौकिक राम राज्य कायम कर लेता है।

इस तरह से ये सब आध्यात्मिक तौर तरीके इसमें गोस्वामी जी ने दबा दबा कर रख दिए हैं। इन्हीं युक्तियों रूपी रत्नों को सहेजते जाना साधकों का काम है। तो सही स्वरूप की समझ या ज्ञान, साधक के अन्दर राम कहलाया और जो भाव है उसमें, वह भरत है। वह ननिहाल में है। ननिहाल का अर्थ है नियम। भाव का नियम में रहने का मतलब है कि वह भव और भगवान दोनों को लेकर चल सकता है। उसमें ऐसी क्षमता है। सजातीय, कर्तव्य आरुढ़ ज्ञान हो जाय - क्रिया में तत्पर हो जाय तो भाव (भरत) भी अनुकूल हो जाता है - सांसारिक कार्य व्यवहार भी अब उसमें अवरोध नहीं डालते। उसी ईश्वरीय भाव से होते हैं। इसलिए भाव-भरत अयोध्या का राज्य ऐसे करेगा। शरीर धर्म का निर्वाह भी भाव के सहारे होता रहेगा। और राम वन में चले जाते हैं। सूक्ष्म साधना में साधक अग्रसर हो जाता है। साधना के लिए ये दो वरदान हैं। साधक में ईश्वरीय भाव की प्रमुखता आ जाय अन्दर-बाहर से, और आत्मोन्मुख साधना में अग्रसर हो जाय। यह साधक का परम कर्तव्य है। तो कैकई ने अगर कोई खराबी किया होता, तो ये वरदान नहीं कहे जाते, अभिशाप कहे जाते। साधना में कर्तव्य रूपी कैकयी का बहुत बड़ा योगदान रहता है। यह कर्तव्य-भावना हर जगह साधक को आगे बढ़ने में मदद करती है। मानव तन पाकर हमारा कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूप को प्राप्त हों, जब यह भावना साधक के मन में प्रमुखता ले लेती है - तब वह सब परिस्थितियों में संभलता जाता है। भक्ति रूपी कौशल्या और सुमति रूपी सुमित्रा भी अपना-अपना काम करती हैं, सहयोग देती हैं। लेकिन कर्तव्य रूपी कैकयी विशेष प्रभाव रखती है। दशरथ को उसकी बात माननी पड़ी।

साधक के मन में साधन करते करते एक ऐसी दुश्चिंता की अवस्था भी आती है कि पता नहीं हम कर पाएंगे पूरी साधना या नहीं। रुकावट आने लगती है, और संसार के सुखोपभोग के आकर्षण उसे खींचने लगते हैं। यही है दशरथ द्वारा राजतिलक की लालसा। कर्तव्य की मद्द से साधक इन संसारी आकर्षणों से विरत होकर सूक्ष्म साधना में आगे बढ़ना स्वीकार करता है। इन्द्रियों के विषय भोगों का त्याग कर देता है। यह वनवास के प्रसंग का रहस्य है। साधक के अन्दर की गतिविधि को गोस्वामी जी ने इस तरह पात्रों और प्रसंगों के रूप में लिख दिया है।

इस तरह से जब कैकयी ने वरदान मांगे, तो कैकई की बात सुनकर दशरथ परेशान हो गया। दसो इंद्रियों में चेतन का प्रतिबिम्ब दशरथ है। इंद्रियों को ज्ञान-ध्यान, साधन-भजन की बातों में रुचि नहीं आती -

इंद्रिय सुरन्ह न ज्ञान सोहाई।

‘विषय भोग पर प्रीति सदाई॥’

इसलिए राज्य के ऐश्वर्य भोग की भावना है उनमें। अपने-अपने विषयों में रस लेती रहती हैं ये इंद्रियां। जीभ रसास्वाद चाहती है, घ्राण सुगंध चाहती है, कान शब्द में रस लेते हैं, त्वचा स्पर्श का सुख चाहती है, नेत्र रूप की तरफ दौड़ते हैं। इंद्रियों में चेतन का प्रतिबिम्ब है दशरथ। तो यह दशरथ कभी नहीं चाहेगा कि राम वन को जाय, कि साधक आगे साधना में लगा रहे। वह स्थूल तक ही सीमित हैं। आगे की साधना सूक्ष्म स्तर की है। वहाँ इन इंद्रियों का यह रूप काम नहीं करेगा। बाहरी स्थूल विषयों में रस लेने वाला रूप नहीं रहेगा - अब रूप बदल जायगा। इसलिए अब दशरथ की मृत्यु हो जायगी - राम के वन गमन के बाद। सूक्ष्म में इंद्रियों के रूप में इनके अधिदैव काम करेंगे। रूपांतरण हो जाएगा - दशरथ अब सुरधाम चले जाएंगे। अब क्षेत्र बदलने से रूप भी बदल जायगा। सूक्ष्म में सूक्ष्मतत्त्व ही काम करेंगे, ऐसा मतलब है।

दो. - होत प्रात मुनिवेष धरि, जौ न राम बन जाहिं।

मोर मरनु राउर अजस, नृप समुझिअ मन माहिं॥

अगर राम वन को नहीं जाते हैं तो कैकयी मर जायगी, मतलब कर्तव्य की हानि होगी। कर्तव्य की पूर्ति नहीं होगी, अगर साधक आगे की साधना में संलग्न न होकर इतने में ही रुक जाएगा। कर्तव्य उसका मृत हो जायगा। इसलिए कहती है मोर मरन राउर अजस’। तो जब कर्तव्य धर्म को पूरा नहीं किया जायगा, और साधना से च्युत हो जायगा तो अजस तो होगा ही। अगर साधना छोड़कर बैठ जाय, अधूरे में गद्दी ले ली जाय और ऐश्वर्य, वैभव में लग जाय, भौतिक आकर्षण में फंस जाय तो जग हंसाई होना स्वाभाविक है। कबीर कहते हैं - ‘आधा चलकर पीछे फिरिहै होइ है जग में हांसी॥’ तो यह कैकयी के रूप में साधक के अन्दर बैठी हुई कर्तव्य भावना उसे प्रेरणा करती रहती है कि साधना में आगे बढ़ना है। अधूरे में छोड़कर नहीं बैठ जाना है।

दो. - देखीव्याधि असाधनृप, परेउधरनिधुनि माथ।

कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ॥

शरीर रूपी अवध के अन्दर का - यह प्रसंग है। दशरथ साधक के उस मन का प्रतीक है जो तमाम तरह के मनोरथों को लिए हुए स्थूल उपासना करने में रुचि रखता है। यह हो जाए भगवान की कृपा से, अमुक यज्ञ अनुष्ठान करूं तो ऐसा काम बन जाए - ऐसी इच्छाएं करता रहता है। सकाम साधना करता है। लेकिन मनुष्य की कामनाओं का अन्त तो है नहीं। एक पूरी होती है तो दूसरी इच्छा होने लगती है। ऐसे कामना युक्त मन वाला साधक, साधना के क्षेत्र में आगे प्रगति नहीं कर पाता। इसलिए मन की इस अवस्था का अन्त होना चाहिए, चाहे जैसे हो। यदि साधक के पूर्व पुण्य और सत्कर्मों के संचित संस्कार ये देवता सक्रिय हो जायं और उनकी प्रेरणा-प्रभाव से बुद्धि काम कर जाय और ईश्वरीय कर्तव्य की ओर साधक प्रवृत्त हो जाय तो कल्याण हो सकता है। बुद्धि रूपी मंथरा है। और उसके द्वारा प्रेरित कैकयी, साधक के अन्दर जाग्रत होने वाली ईश्वरीय कर्तव्य की भावना है। सांसारिक मनोरथों, इच्छाओं वासनाओं का त्याग करके जो आगे की साधना है, उसमें आरुढ़ हो जाना वनवास है। अब या तो युवराज पद लेकर संसार में नरक भोगो, विषय भोगो अथवा इंद्रियों का दमन करो और कर्तव्य आरुढ़ होकर, ईश्वरीय भाव को प्रतिष्ठित करके कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ जाओ। ऐसा हो नहीं सकता कि हम रो भी लें और साथ में हंस भी लें। सो भी लें और जागते भी रहें - दोनों काम साथ-साथ नहीं होंगे।

“दुइ कि होहिं एक समय भुआला। हंसब ठठइ फुलाउब गाला।।”

इस तरह से यह सब साधना काल में साधक के अन्दर उथल-पुथल आती है, और उसका निष्कर्ष उसे अपने विचारों से निकालना पड़ता है। सोचना समझना पड़ता है। बुद्धि-विवेक से काम लेना पड़ता है। यही सब अर्न्तकथा-व्यथा है इसमें।

दो. - परेउ राउ कहि कोटि विधि, काहे करसि निदान।

कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुं मसान।।

राम राम रट विकलु भुवालू। जनु बिनु पंख विहंग विहालू।।

हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहै जनि कोई।।

तो अब साधक का मन जो अभी सांसारिक कामना से भरा हुआ था मृत प्राय हो जायगा। उसके मनोजगत में एक नया सबेरा हो रहा है - प्रकाश हो रहा है। उसका मन अब सुमन्त बन गया है। सांसारिक मनोरथों वाला मन अब निष्प्रम हो गया है। यही तो होता है। मन में माया भरी रहेगी तो भगवान गायब रहेंगे और जब ईश्वरीय विचार रहेंगे तो माया गायब हो जायगी। मन तो एक ही है, उसकी दो

प्रकार की अवस्थाओं को दो रूपों में या दो पात्रों के रूप में बाहर दिखाया गया है। साधक के अन्दर ये सब गतिविधियाँ थोड़े क्षणों में होती रहती हैं - बाहर स्थूल में समय बहुत लगता है, उन्हीं को दिखाने - बताने में। अब सबेरा होने पर सुमन्त आ जाएगा। राम उसके साथ आ जाएगा। मतलब है कि अब साधक के मन की स्थिति अनुकूल हो गई है। अब उसे जल्दी से जल्दी कर्तव्य आरुढ़ हो जाना है। कैकयी की रुचि के अनुरूप सब काम करना है। और जो संसारी विचारों से दबा हुआ मन का रूप है, वह दशरथ अब मृतप्राय हो चुका है। अब हताश हो गया है। अब उसकी कुछ नहीं सुनी जाएगी।

विधिहिं मनाव राउमन माहीं। जेहि रघुनाथन कानन जाही॥

सुमिरि महेसहिं कहहिं बहोरी। बिनती सुनहु सदा सिव मोरी॥

आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरत हरहु दीन जन जानी॥

दो. - तुम्ह प्रेरक सब के हृदय, सोमति रामहिं देहु।

बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहर सीलु सनेहु॥

अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँवरु सुरपुर जाऊ॥

यह सब जो बातें यहां लिखी हैं रामायण में, ये सब हमारे तुम्हारे सबके अन्दर हो रही हैं। जैसे दशरथ परेशान है कि राम वन को न जायं, चाहे मुझे अपयश हो जाय, चाहे नरक में जाना पड़े - शंकर, ब्रह्मा सबको मनाता है कि राम वन को न जायं। तो आदमी का मन इस संसार में जब स्त्री, पुत्र, धन, दौलत, मान प्रतिष्ठा में गहराई से फंसा रहता है, तो उसे छोड़ना मुश्किल होता है। हर आदमी के अन्दर माया का और ईश्वर का विचार रहता है। लेकिन स्थूल जगत का अभ्यास उसे फंसाए रहता है। ईश्वर को भी आदमी अपने ढंग से ही मान्यता देता है। धन के लिए, पुत्र के लिए, सुख के लिए भक्ति भी करता है। ईश्वर के लिए ईश्वर की भक्ति कम लोग कर पाते हैं। अगर सही निर्णय कर पावे कि यह संसार नश्वर है, असत्य है - ईश्वर सत्य है, वह ज्यादा लाभ की चीज है - तो शायद उधर जा सकता है। लेकिन यह बड़े पुण्य - प्रभाव से होता है। तो हर आदमी इस द्वन्द्व में फंसा हुआ है - चाहे वह देश में हो चाहे विदेश में हो, चाहे साधू हो चाहे गृहस्थ हो, सबके अन्दर ईश्वर और उसकी प्रकृति दोनों का असर बना रहता है। इसलिए यह रामायण सबके शरीर रूपी अवध के अन्दर है। गोस्वामी जी ने इसीलिए लिखा है - रामायण सत कोटि अपारा।

वही सच्ची मानस कथा है - अपने अन्दर की जो हलचल है - उसका पढ़ना समझना आ जाय तब समझो कि ठीक है।

तो बाल काण्ड में तो भगवान का अवतार हुआ - भगवान हमारे इस शरीर रूपी अवध में आ गए। हमने अपने अन्दर ईश्वर को मान्यता दे दी है शुभेक्षा, सुविचारणा ये शुरू की सीढ़ी है। आगे योग साधना में लगे जब विश्वास (विश्वामित्र) आया और तर्कना (ताडका) शान्त हुई तो योग (जनक) से क्षमता सीता मिली - अब इस क्षमता को लेकर चित्रकूट में जाना है। चित को कूटना है, शान्त करना है। उधर अत्रि से भेंट करनी है - त्रिगुणातीत होना है। कर्मरूपी बालि को मारना है। ब्रह्मज्ञान रूपी बंदरों को लेकर संयम रूपी सेतु बनाना है। फिर असुरों को मार कर उस खोयी हुई शक्ति को फिर से प्राप्त कर लेना है। जो हम साधना में लगाएंगे। फिर उस क्षमता की अग्नि-परीक्षा हो जायगी - भली प्रकार से प्रमाणित हो जाएगी - तब राम राजा होगा, तब राम राज्य होगा। अभी तो आगे की भूमिकाएं बाकी हैं - सब। अभी राजा नहीं हो सकता। इसलिए वह वशिष्ठ वाली बात सही है कि 'सुदिन समंगल तबहि जब, राम होंहि युवराज।' तो श्रेष्ठ स वशिष्ठ। श्रेष्ठ है ज्ञान। ज्ञान-गुरु की बात कभी झूठी नहीं होती।

दो. - मुख सुखाहिं लोचन स्रविं, सोकु न हृदय समाइ।

मनहुं करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥

मिलेहिं माझ विधि बात बेगारी। जहं तहं देहिं कैकइहिं भारी॥

एहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ॥

सुमंत गए, वहां जाकर देखा सब हाल चाल। फिर कैकयी के कहने से और राजा का भी रुख पाकर राम को ले गए। राम के पूछने पर कैकयी ने बताया पूरा वृत्तान्त। तो सुमंत का मतलब है सुन्दर मन्त्रणा देने वाला मन। ऐसा मन अगर साथ रहे तो फिर साधक के अन्दर उसकी कर्तव्य-भावना मुखरित होती है। इसलिए कैकयी ही बोलेगी - दशरथ अब चुप ही रहेगा। दशरथ का मतलब मन का वह रूप जो दसों इंद्रियों को लेकर स्थूल में रम रहा है। अब जब साधक ने स्थूल स्तर की साधना पूरी करके क्षमता प्राप्त कर लिया है, और आगे सूक्ष्म साधना में प्रवेश करने की योग्यता वाला हो गया है तो सुन्दर मन्त्रणादेने वाला मन भी उसका हो जाता है। कर्तव्य की ओर ले जाने वाला मन हो जायगा। और वह जो उधर स्थूल के ऐश्वर्य भोगों में फंसाए रखने वाला मन का रूप है (दशरथ) वह अब हार मानकर मौन हो जाएगा। धीरे-धीरे मृतप्राय हो जाएगा। और यह सुमंत रूपी अच्छा मन क्या

करेगा ? यह साधक को साधना-पथ पर अग्रसर कर देगा। अयोध्या से निकाल कर ले जाएगा, वन मार्ग में संचालित कर देगा। तो कैकयी की बात सुनकर राम ने चौदह वर्ष के लिए वनवास में जाने का निश्चय किया और पिता को सांत्वना देकर कौशल्या से विदा मांगने गए। अवधवासियों ने वनवास की बात सुनी तो बहुत दुःखी हुए। शरीर के जितने अवयव हैं यही सब अवधवासी हैं। तो जब सूक्ष्म की साधना में साधक तत्परता से लगेगा तो शरीर के खाने-पीने, सोने का ख्याल ही नहीं रहता। शरीर की परवाह नहीं करता। इसलिए ये सब शरीर के अंग-प्रत्यंग रूपी अवधवासी अभी से परेशान हैं। और कैकयी को गाली देते हैं, कि इसी ने सब मामला बना-बनाया बिगाड़ दिया। अगर स्थूल साधना में ही रह जाते, तो ये सब खुश रहते। स्थूल में तो शरीर का ही भरपूर ध्यान रहता है। आनंद ही आनन्द रहता है।

दो. - निरखि राम रुख सचिव सुत, कारनु कहेउ बुझाइ।

सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ॥

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहुं भांति उर दारुन दाहू॥

भक्ति का स्वरूप कौशल्या है। मंत्री-पुत्र का मतलब है मन के अन्तर्गत जो पुण्य संस्कार हैं। पुण्यों के प्रभाव से साधक साधना में उत्तरोत्तर प्रगति करता जाता है। उसकी शक्ति-भक्ति सब अनुकूल रहती है। कौशल्या रूपी भक्ति माता, जो अभी तक स्थूल-साधना में अनुकूल रही अब आगे सूक्ष्म की साधना में भी, साधक के अनुकूल ही रहेगी। कर्तव्य रूपी कैकयी का आदेश उसे भी मान्य होता है। सुमति रूपी सुमित्रा भी कर्तव्य में बाधा नहीं बनेगी। इस तरह से साधक के पास अगर पूर्व के पुण्य हैं और साधना रूप नियत कर्तव्य-पथ में आगे बढ़ने की दृढ़ता है, तो अन्दर-बाहर की सब परिस्थितियां अनुकूल हो जाती हैं। माता-पिता और सभी का आशीर्वाद लेकर भजन में निकलना अच्छा रहता है। साधक के सामने बाधाएं कम आती हैं। तो यह बाहरी तरीके से भी ठीक है।

दो. - समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ।

जाइ सासु पद कमलजुग, बंदि बैठि सिरु नाइ॥

दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥

बैठि नमित मुख सोचति सीता। रुपराशि पति प्रेम पुनीता॥

साधक का कर्तव्य है कि वह निरंतर साधना में लगा रहे। चाहे सेवा करे, चाहे सत्संग करे, चाहे नाम जपे, चाहे ध्यान करे। उसको ईश्वरोन्मुख बने रहना चाहिए। जब ऐसी प्रवृत्ति बन जाती है, और संत सद्गुरु की शरण मिल जाती है, तो समझो

उसके कल्याण का द्वार खुल गया। भजन करते-करते, ध्यान करते-करते, सेवा करते-करते, साधक के अन्दर परिपक्वता आने लगती है। मन की एकाग्रता से उसमें क्षमता आ जाती है। यह क्षमता या शक्ति ही सीता का रूप है। नियम यह है कि जो क्षमता साधकमें आई है भजन-ध्यान करने से, उसको भजन में ही लगावे। उस शक्ति को संसारी विषयों में खर्च न करे। उस शक्ति-सामर्थ्य को आगे की साधना में लगाए। सीता को वनवास में साथ ले जाने का यही अर्थ है सीता अगर साथ न रहती आगे की कथा कैसे बनती? तो समझ लो, अगर अपनी भजन की कमाई को भजन में नहीं लगाया, संसार के ऐश्वर्य भोगों में उसका उपयोग करने लगेंगे, तो आगे साधना में प्रगति नहीं होगी। साधक में और है क्या? भजन की कमाई के अलावा उसके पास और तो कुछ है नहीं। तो उस क्षमता को उस पूंजी को, उसी धंधा-व्यापार में लगाता रहे और इस तरह से ज्यादा से ज्यादा कमाई पुण्य रुपी धन की करके, एक दिन मोटा सेठ बन जाय। यह तरीका है। ऐसा नहीं कि जो चार पैसा पैदा किया मेहनत करके, उसे भी खा-पीकर बराबर किया। पूंजी बगैर धंधा ठप पड़ जाएगा। इसलिए साधक को हमेशा सावधानी बनाए रखनी चाहिए, कि भजन की कमाई का एक-एक पैसा सम्भाल कर रखे। ऐसा नहीं कि - 'पूरब की कमाई, पश्चिम में गंवाई।'।

जहं लागि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते॥

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति विहीन सब सोक समाजू॥

‘पति विहीन सब सोक समाजू’ - परमात्मा के बिना यह सब धन-धाम, राज-पाट, दुःख का घर है। विश्व-पति परमात्मा ही वास्तव में सबका पति है। उस पति के बिना सुख कहीं है ही नहीं। वही राम है सुख का धाम।

सो सुधधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।’

ऐसे उस पति के साथ रहने में सुख है। तो साधक की जो गति-मति है, जो क्षमता या कर्तृत्व है उस पति-परमेश्वर को पकड़ लेती है दृढ़ता से, और उस राम में रमण करती है सुरति, तब सुख मिलता है। संसार के पदार्थों में और बनावटी संबंधों में सुख नहीं है। सच्चा संबंध तो यह है कि जीव अंश है, परमात्मा अंशी है - उसे पाए बगैर सुखी हो नहीं सकता यह जीव। ‘तब लागि सुख नहिं जीव कहुं, सपने हुमन विश्राम। जब लागि भजइ न राम कहुं, सोक धाम तजिकाम॥’ इसलिए हमारे ऋषि-मुनि, संतों ने, सच्चे सुख को पाने के लिए, यह साधन-भजन का रास्ता निकाला है। साधकों को यह अर्थ लेना चाहिए - परमात्मा को पति मान लिया जाय

और उसे अपना मालिक बना दिया जाय और खुद को उसके हाथों में सौंप दिया जाय। अबला बन जाय, तो काम बन जाय। अनेक संतों में यह पत्नी भाव देखने में आता है – मीरा में, कबीर में। तो जो खास बात है इसमें वह यह है कि जो पत्नी धर्म है, असल में वही साधक धर्म है। जैसे पतिव्रता में पति निष्ठा होती है – यही चीज साधक के अंदर परमात्मनिष्ठा बनती है। इसमें सेवा, समर्पण, विश्वास, लगन, ध्यान सब आ जाते हैं। इसलिए गोस्वामी जी भी कहते हैं कि-

अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।'

उस पति-परमात्मा के बिना सब दुनिया दुख का घर है। 'पतिविहीन सब सोक समाजू।' तो सीता, राम के बिना नहीं रह सकती।

'तन बिन रहइ छंह किमि छेंकी।'

साधक और साधक की क्षमता दोनों एक ही है। क्षमता से ही साधक है, और साधक में ही क्षमता है। सीता और राम अलग-अलग नहीं हैं, दोनों एक हैं।

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।'

ऐसा यह मामला है। अलग नहीं हो सकते। सघुवई के बिना साधु नहीं रहता। ये हाथ-पैर, पेट-पीठ तो सबके होते हैं, साधक की क्षमता ही उसे साधक बनाती है। उसके बिना साधक नहीं कहा जाएगा।

सो. - मातु चरन सिर नाइ, चले तुरत संकित हृदय।

बागुर विषम तोराइ, मनहुं भाग मृग भागबस।।

गए लखन जहं जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू।।

लक्ष्मण विवेक का प्रतीक है। सुमति रूपी सुमित्रा से पैदा हुआ है। जिस साधक में सुमति है – जिसकी बुद्धि अच्छी है, उसके अन्दर विवेक उत्पन्न होता है। विवेक का काम है कि सही-गलत का विवेचन करे और गलत को छोड़े सही को ग्रहण करे। कहते हैं कि हंस के सामने दूध और पानी मिलाकर रख दिया जाय तो हंस दूध को पी लेता है, पानी को अलग छोड़ देता है। इस तरह से सत्-असत् का विवेक जिस संत-साधक में है, वही वास्तव में हंस है।

संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।'

सद्गुणों को धारण करे और दोषों का परित्याग करे – यही साधक का कर्तव्य है।

तो अन्तर्जगत में विवेक है लक्ष्मण। यह राम के बिना रह नहीं सकता और राम भी लक्ष्मण के बगैर रह नहीं सकता। ज्ञान-विवेक हमेशा साथ-साथ रहते हैं - ऐसा मतलब है इसका।

इस तरह से अब राम, लक्ष्मण और सीता, राजा दशरथ के पास आजा लेने जाएंगे। अब देखो वहां क्या होता है ?

मुनि पट भूषण भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥

नृपहिं प्राण प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छांडिहि मीरा॥

सुकृत्तु सुजसु परलोक नसाऊ॥

तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ॥

अस विचार सोइ करहु जो भावा।

राम जननि सिख - सुनि सुख पावा॥

भूपहिं बचन बान सम लागे। करहिं न प्राण पयान अभागे॥

लोग विकल मुरछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू॥

राम तुरत मुनि वेष बनाई। चले जनक जननिहिं सिरु नाई॥

दो. - सजि बन साज समाज सब, बनिता बंधु समेत।

बंदि विप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहिं अचेत॥

राजा दशरथ परेशान है। कैकयी से बहुत आरजू मिन्नत किया, लेकिन उसने एक नहीं सुनी। राम से रोए, धोए, लेकिन वह भी नहीं सुने। सीता को समझाएं, वह भी नहीं मानी। तो अब इस अवस्था में साधक के मन की स्थूल उन्मुखता कमजोर पड़ जाती है। उसका कर्तव्य मुखरित रहता है। अब देखो, कैकयी ने यहाँ भी काम बना दिया। दशरथ तो इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। कैकयी ही सहयोग कर रही है, राम को वन जाने में। क्या किया कि -

‘मुनिपट भूषण भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥’

लाकर सब रख दिया मृग छाला वगैरह राम के सामने और बोली कि हे राम! ये तुम्हारे पिता शील संकोच में पड़े हैं। इसलिए ये तुम्हें वन में जाने के लिए कहेंगे नहीं। भले ही इन्हें अपयश मिले चाहे नरक में जाना पड़े। इसलिए अब तुम जो ठीक समझो वह करो। तो अब वहां कुछ कहने-बोलने की गुंजाइस ही नहीं रह गई। बस झट-पट राम ने मुनि-वेष बनाया और निकल पड़े वहां से। तो साधक के अन्दर कर्तव्य-भावना का रूप है कैकयी। मानवतन पाकर हम सबका कर्तव्य होता है कि हम आत्मोद्धार के लिए प्रयत्नशील हों। भजन-साधन के द्वारा आत्म-कल्याण का मार्ग

प्रशस्त करें। अगर आदमी को अपने इस कर्तव्य का बोध बना रहे तो वह रुक नहीं सकता। भजन के रास्ते में आगे ही आगे बढ़ता जाएगा। इस तरह से यह कर्तव्य रूपी कैकयी बहुत बड़ी ताकत है, साधक के अन्दर। यह साधक का सबसे ज्यादा हित करने वाली चीज है। यह जिसके साथ है, उसकी विजय ही विजय है।

चलत राम लखि अवध अनाया।

विकल लोग सब लागे साथी॥

कृपा सिंधु बहुविधि समुझावहिं।

फिरहि प्रेम बस पुनि फिरि आवहिं॥

जैसे कोई साधक जब घर गृहस्थी छोड़कर संसार से विमुख होकर ईश्वर के भजन के लिए निकलना चाहता है, तो उसे उसके माता-पिता, भाई-बंधु प्रजा-परिजन सब मना करते हैं - गृहस्थ धर्म ही अच्छा है, जेठा धर्म है - ऐसा कहकर रोकते हैं। यही सब वहां अयोध्या में हो रहा है। पिता दशरथ, माता कौशल्या, सभी राम को वन जाने से रोकते हैं। अयोध्यावासी भी रोकना चाहते हैं। राम बन न जायं, बन न जायं। जो यह बताइए कि बन न जायं तो क्या बिगड़ जायं? या तो बन जायं या फिर बिगड़ जायं - एक ही काम होगा। तो यह तो संसार का तरीका है। संसार तो फंसाएगा ही - यह साधक का काम है कि इससे छूटकर निकल जाय। साधना के रास्ते में आगे बढ़ जाय तो काम बन जाय। और संसार के चक्कर में फंसकर साधन-भजन छोड़ बैठा, तो समझो सब बिगड़ गया। कबीर कहते हैं-

यह संसार सकल है मैला, राम कहैं ते सूचा।

कहै कबीर भजन नहीं छांडौ, गिरत परत चढ़ अंचा ॥

यह विचार क्षेत्र की बातें हैं। साधक के अन्दर की बातें हैं, जो साधना काल में आती हैं। बाहरी संसारी बातें साधना में अवरोध बनती हैं, लेकिन अंत में भक्ति कौशल्या भी सहमत हो जाती है - सीताशक्ति जो साधक अभी तक अर्जित की है वह उसका साथ देने को तैयार हो गई - वह भी अनुकूल है। उधर विवेक भी अनुकूल है। तो यह साधक के अन्दर जो कर्तव्यभावना है, वह सबको अनुकूल कर लेगी। राम ज्ञान का रूप है। वही मुख्य है। वही सब काम करता है। विवेक सदा उसके साथ रहता है। विवेक ही है जो साधक को आत्म कल्याण के मार्ग पर सहयोगी होता है। जब साधना पूरी हो जाती है, तो फिर बाद में तो ये सब प्रतिकूल वाले भी अनुकूल हो जाते हैं। तो यह जो रामायण है यह हमारे-तुम्हारे सबके लिए

आध्यात्मिक कानून का बहुत बड़ा दस्तावेज हैं, जिसमें आदमी आत्मकल्याण का तरीका पा सकता है। लेकिन ज्यादातर इसका सदुपयोग लोग कर नहीं पाते हैं।

मूल बात है कि परमात्मा हमारा अंशी है हम उसके अंश हैं। जीवात्मा जब तक परमात्मा से भेंट नहीं कर लेता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे वर्षा की छोटी बूंदें मिलकर नाला बना देती हैं। फिर कई नाले मिलकर एक बड़ी नदी बना देते हैं। एक बड़े प्रवाह का रूप लेते हुए अंत में समुद्र में मिलती हैं। वैसे ही जीव की गति भी परमात्मा की ओर ही रहती है। संसार की बाधाएं उसके प्रवाह को रोकती हैं- लेकिन उसकी गति उधर ही रहेगी। हमें सोचना चाहिए कि वह कौन सी चीज है जो सदा हमारे साथ रहती है। हम उसे चीन्हें - पहचाने। घर, शरीर, धन, स्त्री पुत्र आदि सगे संबंधी सदा साथ नहीं रहते - आत्मा है, जो हमेशा साथ है। सत्य और सनातन है, उसी से भेंट करना है - सदा तुम्हारे साथ है तुम्हारा स्वरूप ही है। इन सब बातों की जानकारी इस रामचरित मानस को पढ़ने से होती है। लेकिन लोग परंपरागत ढंग से ही उसे लेते हैं - पचासों साल से गीता का पाठ कर रहे हैं - रामायण की कथा सुन रहे हैं। कुछ पकड़ नहीं पाते - लाभ नहीं ले पाते। अब गोस्वामी जी ने तो राम का नाम जपने की बात कह दी, लेकिन कोई नाम जप करे तब तो। हजारों लाखों, पढ़ने-सुनने वालों में कभी कोई दो चार करते हैं। ये जपने वाले भी अपने ढंग से जपेंगे। इसमें गड़बड़ी आ जाती है। लोग जिन्दगी भर बैखरी वाणी से जप करते रहते हैं। आगे का कोर्स करते नहीं। मध्यमा, पशंपती, परा का कोर्स करें तब रूप आ जाएगा। रूप का ध्यान ठीक हो जाय तो लीला, और लीला पकड़ में आने लगे तो धाम मिल जाय। गोस्वामी जी कहते हैं -

बारक नाम जपत जग जेऊ।

होत तरन तारन नर तेऊ।।'

तो यह परा वाणी का नाम है, परा वाणी के नाम में वह ताकत है। और जब बैखरी से जपते हैं माला, तो माला चल रही है, जीभ चल रही है, लेकिन मन जा रहा है बाम्बे, कलकत्ता। ऐसे जप नहीं होता। जप तो मन की एकाग्रता के लिए होता है। मन यहां वहां भागरहा है - ऐसे जप से क्या लाभ? तो ये सब ध्यान देने की बातें हैं। साधना के एक-एक स्तर पर आगे बढ़ना होता है।

दो. - बालक वृद्ध बिहाइ गृह, लगे लोग सब साथ।

तमसा तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ।।

दशरथ की आज्ञा से सुमंत रथ लेकर गए और राम, लक्ष्मण, सीता को रथ पर बैठाकर चले तो सब अवधवासी उनके साथ चल पड़े घर छोड़कर। पूर्व की साधना से शुद्ध हुआ साधक का मन सुमंत है, दसो इंद्रियों में चेतन का प्रतिबिम्ब दशरथ – उस दशरथ का यह मित्र है, मंत्री है। साधक नाम जप का आधार लेकर साधना में आगे बढ़ता है – उस साधन में स्थायित्व आ जाय – पकड़ बन जाय रा, म; की धारा में स्थिरता आ जाय यही रथ है। उसी का आधार लेकर साधक को आगे की (सूक्ष्म) साधना में प्रवेश करना पड़ता है। और शरीर को अवध कहते हैं। इस अवध के निवासी, शरीर स्तर के अचार विचार और उससे संबंधित अवयव, यही सब अवधवासी हैं। जो साधक को जल्दी छोड़ते नहीं हैं। जैसे कोई साधक सोचे कि भगवान तो सर्वत्र हैं – क्यों न घर गृहस्थी में ही साधन-भजन किया जाय, तो यह सब विचार साधक के वैराग्य में बाधक हैं। ऐसे विचार और शरीर स्तर की क्रियाएं भी तब तक पीछा नहीं छोड़ती, जब तक साधक में त्याग नहीं आ जाता। त्याग ही तमसा है। साधना में आगे बढ़ने वाले साधक में त्याग आना सबसे पहले जरूरी है। सबसे पहले त्याग रूपी तमसा के तट पर विश्राम हुआ। तमसा के पार गए अर्थात् त्याग में पारंगत जब हो गए, तो उन सबसे पीछा छूट गया। ये जो बाहरी स्थूल बातें थीं। अब वह कोर्स पूरा हो गया। साधक आगे बढ़ गया। अवधवासी सो गए, अब उस अवस्था में स्थूल के विचार 'शांत हो जाते हैं। खोज मारि रथ हांकने का मतलब अब साधक का मन गुप्त अंतरंग साधन में लग जाता है। बाहर वाले नहीं जान पाते, गुप्त रूप से अन्दर ही अन्दर भजन चलता रहता है। बाहर की माला जपने से सब लोग जानेंगे, अगर मन की माला पकड़ ली जाय, श्वास जप में मन लगा रहे अन्दर ही अन्दर, तो इसे कोई नहीं जानेगा। यह गुप्त भजन का तरीका है दुनिया से बचने का।

दो. – राम दरस हित नेम व्रत, लगे करन नर नारि।

मनहुं कोक कोकी कमल, दीन विहीन तमारि॥

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगवेर पुर पहुँचे जाई॥

उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दण्डवत हरषु विसेषी॥

दस इंद्रियां और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चौदह अध्यात्म हैं। इन चौदहों की साधना है चौदह वर्षों का वनवास। अन्तर्जगत की साधना में साधक स्टेप बाई स्टेप (सीढ़ी पर सीढ़ी) आगे बढ़ता जाता है। राम की वन-यात्रा का यह तात्पर्य है। पहले त्याग किया – तमसा पार किया। त्याग से साधना में प्रगति हुई तो सृंगवेरपुर मिल

गया। सृंगवेरपुर का मतलब साधना की उच्च अवस्था। यहां सुरसरि का दर्शन हुआ। साधक के अन्दर जब श्वांस-प्रश्वांस में नाम की एक रस धारा चलती है और उसमें तन्मयता आती है, तो सहस्रार से अमृत रस निकलता है। योग की उच्च स्थिति में यह मिलता है। इस रस को पाकर साधक तृप्ति का अनुभव करता है। इस सुरसरि का दर्शन किया, नमन किया। इसका मतलब है कि साधक ने अपनी उस स्थिति को देखा, समझा और सादर स्वीकार किया मज्जन किया – अपने अन्दर उसी स्थिति की अनुभूति किया। सुरसरि की कथा सुनाने का अर्थ है कि मन ही मन में उस स्थिति तक पहुंचने की प्रक्रिया को गुनता है, मनन करता है साधक। यह सुरसरि अपने अन्दर कैसे उतरती है, कैसे यह अमृत हमें मिले – यह गुनना-समझना है, मनन करना है और उसे अपने पुण्य पुरुषार्थ के द्वारा भजन के द्वारा अनुभूति के धरातल पर ले आना है। इस तरह से अपने मतलब का अर्थ निकाल कर चलो, तब यह गीता, रामायण शास्त्र पुराण सब तुम्हारे लिए कल्याण करने वाले हो सकते हैं। भगीरथ की कहानी से इतनी बात सीख सकते हो कि लगन के साथ भजन में जुटे रहना है – जब तक परिणाम न आ जाय। जैसे धनुष से छूटकर बाण अपने लक्ष्य पर ही रुकता है। इसी प्रकार साधक को लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त निरन्तर भजन रूपी पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥

लिए फल फूल भेंट भरि भार। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥

अब यह पुण्योदय काल आ गया। जब साधक सूक्ष्म साधना में प्रवेश कर जाता है और उसमें स्थिति जमा लेता है, तब यह भजन की बहुत अच्छी अवस्था मानी जाती है। इसके साथ ही पूर्व के पुण्यों का उदय होता है। यह गुप्त पुण्यों का उदय होना, कथानक में, निषादराज गुह का राम से मिलन कहा गया है। बात साधक के अन्दर की है, बाहर ये प्रतीक बनाए गए हैं। गुह का अर्थ है गुप्त। गुप्त पुण्यों का प्रतीक है गुह। यह साधक का बहुत बड़ा सहयोग करता है। सखा है राम का। हमेशा साथ देता है। पूर्व पुण्यों का साधन क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्व है। गोस्वामी जी ने जगह-जगह यह बात लिखी है। गुह जब आया, तो राम ने उसे सम्मान सहित अपने पास बैठाया और सखा कहकर उसे अपनाया। अगर साधक दृढ़ होकर आगे ही आगे बढ़ता रहे, तो एक दिन ऐसा आएगा कि उसके पूर्व जन्मों की कमाई जो पुण्यों के रूप में संचित है, वह उसके काम आने लगेगी। जब पुण्य-समूह साथ देने लगता है तो आगे साधन-भजन का मार्ग सुगम बन जाता है। बाधाएँ हट जाती हैं। तेजी से प्रगति होने लगती है।

सखा परम परमास्थ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥

राम ब्रह्म परमास्थ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥

सकल विकार रहित गत भेदा। कहिनित नेति निरूपहिं वेदा॥

दो. - भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।

करत चरित धरि मनुज तन, सुनत मिटीहिं जग जाल॥

सारा ब्रह्मज्ञान लक्ष्मण ने गुह को बता दिया संक्षेप में। समाज में रामायण पढ़ने वाले लोग लक्ष्मण की इन बातों को 'लक्ष्मण गीता' कहते हैं। वेदान्त की मूल-मूल बातें इसमें दे दिया है गोस्वामी जी ने। साधकों के लिए इतना ही ज्ञान बहुत है, लम्बी-चौड़ी बातें ज्ञान की होती रहें और क्रिया में न लिया जाय तो सब बेकार है। इसलिए अंत में कह दिया, कि, 'सखा परम परमास्थ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू।' मूल बात बस इतनी है कि हमारा लगाव परमात्मा से हो जाय। उस राम से हो जाय जो राम हमारे-तुम्हारे सबके अन्दर आत्मा रूप में है। उसमें रत होना है। उस परमतत्व की, उस परमात्मा की जो भक्ति करता है - उस भक्त के लिए, भूमि अर्थात् इस शरीर के हित के लिए, भूसुर अर्थात् शरीर के अन्दर कोष्ठकों में स्थित देवताओं के हित के लिए, सुरभि अर्थात् गो नाम इंद्रियों के लिए और सुर अर्थात् इन्द्रियों में बैठे हुए देवताओं के लिए ही वह परमात्मा इस मानवतन में अवतरित होता है। बाहर तो कहीं कुछ है नहीं, अपने इसी शरीर में सारा लीला चरित्र हो रहा है। तो भाई, भगवान तो केवल उनके लिए है जो भक्ति करे। करने वालों के लिए है। भक्तों के लिए ही सुलभ होता है - 'सो केवलभगतन हित लागी।' ऐसे तो भगवान सर्वत्र है, सबमें है लेकिन प्रकट तो भक्ति करने वालों में होता है। और समाज में जैसे भगवान के अवतार की मान्यता है, वह दूसरा विषय है, भाव क्षेत्र की बात है। स्थूल से शुरुआत करके सूक्ष्म में जाने का तरीका है। लेकिन प्रायः लोग भावना में भटक जाते हैं। हठधर्मिता वश सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते। अब यहाँ गोस्वामी जी बता तो रहे हैं, परंतु क्या कोई मानता है? गीता में जगह-जगह यही लिखा मिलता है कि - ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।' तो भाई हम तो यही जानते हैं कि भगवान सच्ची भक्ति करने वालों के अन्दर स्पष्ट होता है। और यहां जो यह लिखा है कि 'जासु नाम सुमिरत एक बारा', उसका मतलब यह होता है कि जब नाम जपते-जपते तन्मयता आ जाय नाम और नामी और जापक में अभेद हो जाय, ध्यान, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी बन जाय। वह स्थिति मिले तब भव-सागर से पार होता है। एक बार नाम का मतलब है कि आदमी विचार में और क्रिया में

एक हो जाय - एकनिष्ठता आ जाय ईश्वर में और तब अन्दर ही अन्दर उसकी लीला भी स्पष्ट होने लगती है।

लक्ष्मण और गुह का यह जो सत्संग है, यह साधक के अन्दर की बात है जब साधक साधना की उच्च स्थिति में पहुँच जाता है उसके पूर्व पुण्यों का उदयकाल आ जाता है और विवेक रूप लक्ष्मण हमेशा सजग रह कर साथ देता है - तब साधक के अन्दर उसके स्वयं के विवेक द्वारा ऐसे तत्व-विचार उदीयमान होते हैं। और वह कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ जाता है। कर्म (साधन-भजन) रूपी केवट के द्वारा, निवृत्ति रूपी नाव के सहारे गंगा पार निकल जाता है। आगे बढ़ जाता है। गंगा का अर्थ - गो नाम इन्द्रिय गत विषयों से उपरामता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है और भजन रूपी भरद्वाज से भेंट कर लेता है। भजन की सही प्रक्रिया का अधिकारी बन जाता है। प्रयाग का वास्तविक स्वरूप ऐसे ही साधक के अन्तर्जगत में प्रतिफलित होता है। श्वांस जप की प्रक्रिया में जब इड़ा रूपी गंगा, पिंगला रूपी यमुना और सुषुम्ना रूपी सरस्वती सम्यक रूप से गमन करने लगती हैं - त्रिकुटी में जाकर सम हो जाती हैं, ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी बन जाती है, तब इसे संगम कहा जाता है। इसमें जो अवगाहन कर लेता है उसके सब कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह निर्मल निष्पाप हो जाता है। ऐसा यह मामला है। बाहर-बाहर पानी में चमड़ी धोने से कुछ नहीं होता। उस प्रयाग की महिमा शास्त्रों में कही गई है, उस गुप्त प्रयाग में पुण्यात्मा साधुजन ही अवगाहन करते हैं। सबकी पहुँच उसमें नहीं हो पाती है।

दो. - सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मनकाम।

बंदी वेद पुरान गन कहहिं विमल गुन ग्राम॥

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृग राऊ॥

अस तीरथ पति देखि सुहावा। सुख सागर रघुबर सुख पावा॥

तो ये सब योगी (साधक) के अन्दर के अवयव हैं जो यहाँ बताए गए हैं। 'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। ये सत्य, श्रद्धा सब मिलकर साधक के अन्दर तीर्थराज का स्वरूप खड़ा करते हैं। ईश्वरीय धर्म में संलग्न मन ही माधव है, हितैषी मित्र है। सत्य मंत्री है, श्रद्धा स्त्री है। ऐसे सब अंगों से सम्पन्न यह अन्दर का तीर्थराज अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारो फल देने वाला होता है। साधक को निष्पाप बनाकर कृतार्थ करने वाला है यह प्रयाग। इसी की महिमा वेदों में कही गई है। यह ध्यान की प्रगाढ़ स्थिति रूप किला ऐसा है कि जिसमें विजातीय तत्व प्रवेश नहीं कर पाते। क्षेत्र

अगम गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रति पच्छिनु पावा।। इस तरह से इसमें बाहर का कोई मतलब नहीं है। बाहरी बात होती तो इसे अगम क्यों लिखते? बाहर का प्रयाग तो सबके लिए सुगम है। जो सुकृती साधक उस अगम क्षेत्र में प्रवेश कर पाता है, उस त्रिपुटी रूपी संगम में मज्जन करके निर्मल हो जाता है, उसे भजन रूपी भरद्वाज मिल जाता है। भजन का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। भजन की यथार्थ स्थिति पकड़ में आ जाती है। यहां पहुँचने पर उसका भजन रूपी भरद्वाज धन्य-धन्य हो जाता है। तो उस प्रयाग में रात्रि विश्राम करके आगे बढ़ गए। मतलब यह है कि ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी में जो शून्य आकाशवत स्थिति बनती है वह कुछ क्षणों तक ही ठहरती है तो भी महान शान्ति देने वाली और साधक को लक्ष्य की झलक देने वाली होती है। और ये जो चार वटु भरद्वाज ने राह दिखाने वाले साथ में भेजे इसका अर्थ ऐसे समझ लेना चाहिए कि अब आगे की साधना अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) के आधार पर चलेगी। अर्थात् अब यहाँ से साधक अपने संकल्पों, विचारों, चिन्तवनों और अनुभूतियों को पकड़ कर आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेज पुंज लघु वयस सुहावा।।

कवि अलिखित गति वेष विरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी।।

दो. - सजल नयन तन पुलक निज, इष्ट देव पहिचानि।

परेउ दण्ड जिमि धरनितल, दशा न जाइ बखानि।।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जुनु पारस पावा।।

मनहुं प्रेम परमारथ दोऊ।। मिलत धरे तन कह सब कोऊ।।

यहां यह तापस जो मिलता है - यह अलौकिक क्षेत्र की एक डिग्री है, जो साधना की एक अवस्था में साधक को मिलती है। जब वह योग की जानकारी रूपी यमुना को पार कर लेता है और उसे अपने इष्ट अर्थात् अभीष्ट आत्मा की पहचान मिल जाती है। उसकी एक झलक अनुभूति में पकड़ पाता है, तो वह अनुराग युक्त होकर उसमें लिपट पड़ता है। रोमांच हो जाता है, प्रेम के आवेश में कंठ गदगद हो जाता है। आंखों में अनुराग के आंसू छलक आते हैं। जिस परमार्थ तत्व के लिए प्रयासरत रहा वही अनुभव में आ गया, तो फिर, दशा न जाइ बखानि।' वह कहने बताने में आने वाली बात ही नहीं है इसलिए वहां कह देते हैं - 'कवि अलिखित गति।' वह लिखते या कहते नहीं बनती, ऐसी एक आलौकिक अनुभूति है। गोस्वामी जी कहते हैं - जैसे प्रेम और परमार्थ परस्पर मिल रहे हों। अब कह तो दिया। स्पष्ट

संकेत कर दिया, कि जिस साधक के अन्दर एकनिष्ठ प्रेम अपने इष्ट के लिए आ जाता है, उसे उसके अभीष्ट परमार्थ तत्व की उस आत्मतत्व की झलक अनुभव में आने लगती है। बिना अनुराग के परमात्मा की रूपरेखा पकड़ में नहीं आ सकती। इसलिए रोना चाहिए खूब उसके प्रेम में। पागल होना पड़ता है उसके लिए, तब कहीं उसको टच कर सकते हो। ऐसे यह हंसी खेल नहीं है भजन-साधन।

पुनि सियराम लखन कर जोरी। जमुनहिं कीन्ह प्रनाम बहोरी।।

चले ससीय मुदित दोड भाई। रवितनुजा कइ करत बड़ाई।।

योग क्रिया रूप है यमुना। उसे नतमस्तक होने का मतलब है कि योग क्रिया के महत्व को स्वीकार करते हैं। कोई साधक जब योग-साधना करके सफलतापूर्वक आगे बढ़ जाता है। अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि को देखने समझने और उस पर नियंत्रण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो मन ही मन में अपनी साधना-विधि को, उस योग क्रिया को ठीक मानता है। उसकी प्रशंसा करता है। यमुना की स्तुति करना उसकी बड़ाई करने का यही आशय है। इस अवस्था में पहुंचकर साधक आह्लादित हो जाता है और ऐसा महसूस करता है कि मैं सही रास्ते में हूँ। यमुना पार करने के बाद वन मार्ग में राम को हर जगह सुखद और प्रसन्नतादायक अनुभूतियाँ मिलती चली जाती है। हर प्रसंग में यह बात देखने को मिलती है।

रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि संग लागे।।

एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन वर बानी।।

दो. - एक देखि वट छंह भलि, डासि मृदुल तृन पात।

कहहिं गंवाइय छिन्कु श्रमु, गवनब अबहिं कि प्रात।।

निवृत्ति मार्ग का साधक जब अन्तर्जगतीय सूक्ष्म साधना में आगे बढ़ जाता है और अपनी प्रगति पर कुछ संतोष का अनुभव करता है तो वह अन्दर-बाहर प्रसन्नता से भर जाता है, उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग में अलौकिकता झलकने लगती है। वाणी में मिठास आ जाती है। बाहर के वातावरण में आस पास के लोगों में उसका प्रभाव आ जाता है। लोक श्रद्धा-प्रेम करने लगेंगे, सेवा करने को प्रस्तुत हो जाएंगे। कोई कुछ ले आएगा, कोई कुछ दे जाएगा। देखने वालों में विशेष आकर्षण बनेगा - यह ऐसा स्वाभाविक होता है। अच्छे महात्माओं के प्रति लोगों में भाव बन जाता है। यही बात यहाँ दिखाई गई है। एक स्थिति में पहुंचने पर यह हर साधक के साथ होता है। साधक को चाहिए कि इन सबके प्रति उदासीन रहकर आगे बढ़ता जाय।

भगवान राम को जो देखता है वही प्रभावित हो जाता है। मस्ती में आ जाता है। क्योंकि उनके पास जो चमक है वह अन्दर की है। महात्मा की चमक बाहर की नहीं अन्दर की है जो बाहर दिखाई पड़ती है। तो इसलिए वह चमक सबको प्रभावित कर देती है। वह आत्मा उन देखने वालों के अन्दर भी है। और वह महात्मा आत्मा की क्रिया कर रहा है। इसलिये देखने वाले की आत्मा उससे प्रभावित हो जाती है।

बरनि न जाय मनोहर जोरी।

सोभा बहुत मोरि मति थोरी॥

राम लखनसिय सुंदरताई।

सब चितवहिं चित मन मति लाई॥

बताइये कि राम खड़े भर हो जायं, तो रामायण की दृष्टि से सब लोग उन्हें देखने को दौड़ पड़ते हैं। खग-मृग भी सब आ जायेंगे। अनुकूल हो जायेंगे। और उसी राम को बाद में अयोध्या में क्या कहने लगे थे? कि राम इतना अच्छा भाग्यशाली आदमी इतना बुरा काम कर बैठा है यह। लोगों ने सीता पर कलंक लगा दिया। राम को बोल नहीं आया। और अन्त तक वही रटते रहे, जो दशरथ ने राम से कहा था कि “हे राम! राजा का कोई लड़का नहीं होता। राजा का कोई बाप नहीं होता। राजा की कोई माता नहीं होती। राजा को दादा दादी नहीं होते, राजा का कोई परिवार नहीं होता। राजा का परिवार पूरा समाज होता है। प्रजा ही सब कुछ है – राजा के लिए। और उसी प्रजा के कहने से सीता का त्याग करना पड़ा। तो यह इस तरह की दुनिया है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। सीधा भी चल लेगी, उल्टा भी चल लेगी। लेकिन राम को तो एक नीति पर चलना पड़ेगा। वह राजा है, नेता है सबका। त्याग करना पड़ेगा। वही राजा कहा जायगा वही लीडर माना जायगा, जिसने अपने मन को इंद्रियों को लीड कर लिया हो। नियंत्रित करके इन्हें आत्मा की तरफ ले चले वह नेता कहा जायगा। भजन करने वाले को अपने तरीके से सब अर्थ करना पड़ता है – दुनिया से बचकर रहना पड़ता है।

एक कहहिं ये सहज सुहाए। आपु प्रगट भए विधि न बनाए॥

जहं लगि वेद कही विधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥

देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहं अस पुंष कहाँ अस नारी॥

इसका मतलब यह है कि राम-सीता ये सब आलौकिक क्षेत्र के हैं। लौकिक मानवीय जो विचारधारा है कि ऐसे आदमी को होना चाहिये। सुन्दरता की परि सीमा ऐसी होनी चाहिए – तो उसके बीच के यह नहीं हैं यह सुंदर और कुरूप से परे की

बात है। अपने आप ये आये हैं। ये ब्रह्मा की बनाई हुई सृष्टि के नहीं हैं। ये आटोमैटिक बनकर तैयार हुए हैं। यह निर्णय ठीक बैठ गया। और इस सृष्टि में तो आदमी कितना भी सुंदर हो, कोई न कोई अंग असुंदर भी होता है उसका। तो इनके अंग पूरे सही कैसे निकल गये। यह एक प्रश्न तैयार हो गया। इसलिए ये सब देखने वाले लोग परेशान हैं। तो गोस्वामी जी ने समाधान कर दिया कि 'आपु प्रगट भए विधि न बनाए।' ये लौकिक नहीं अलौकिक हैं। अपने से ही प्रकट हुए हैं। साधना के द्वारा अपने अंदर उद्भूत होने वाले तत्व हैं। लौकिक रूप नहीं है इनका - अलौकिक तत्व हैं। इस संसार में बाहर कहां ऐसे नर-नारी मिलेंगे? ये तो ज्ञान विवेक और क्षमता हैं।

दो. - सुवि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।

सुनि रघुवर आगमन मुनि, आगे आयउ लेन॥

मुनि कहूँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरवाद विप्रवर दीन्हा।

देखि राम छबिनयन जुझाने। करि सनमान आश्रमहिँ आने॥

अब तुम कहोगे कि गोस्वामी जी ने बाल्मीकि को विप्रवर कैसे लिख दिया, वाल्मीकि तो भील जाति के थे। तो भाई जब पालिया ब्रह्ममयी स्थिति बाल्मीकिने, तो ब्रह्मर्षि हो गये। विप्रवर हो गए। जाँत-पाँत अब लगी नहीं रहेगी। जाति तभी तक रहती है, जब तक हम उस जाति के धर्म को धारण करते हैं। जातीय धर्म को धारण करेंगे तो जाति रहेगी, जब भायप धर्म को धारण करेंगे तो भायप रहेगा। जब हम आदिवासी धर्म को धारण करेंगे तो आदिवासी हो जायेंगे। अब इन्होंने तो धर्म बदल दिया था "बाल्मीकि भयेब्रह्म समाना" साधना करके बाल्मीकि तो ब्रह्म के समान हो गये थे। ब्रह्म को जान ले। उसमें स्थिति बना ले। उसे ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण को ही विप्रवर कहते हैं। बाल्मीकि का बदलाव हो चुका था। आज भी है, बदलाव का असर होता है। यदि कोई गाँव चला जाय तो जो आदिवासी हैं, हरिजन हैं, वह अपने ढंग से मिलते हैं। और यदि उनमें से कोई नेता होकर गृहमंत्री हो जाय, तो सब लोग उसे हाथों में लेंगे। उसे कोई आदिवासी कहता है क्या? उसे तो सब मंत्री जी ही कहेंगे। उसके मरने के बाद भी उसकी समाधि पर बड़े-बड़े लोग हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। इस बाहरी जगत में भी जब महत्वाकांक्षा आ जाती है? पद मिल जाता है, तो अंतर आ जाता है। बाल्मीकि ने तो अन्तर्जगत की बहुत बड़ी डिग्री पाई है। इन्होंने तो अपना आदिवासित्व सब खत्म कर दिया, और ब्रह्मवास पालिया। इसलिए रामजी की तरफ से वाल्मीकि को सबसे ऊँची डिग्री मिली। राम ने उसे त्रिकालदर्शी

कहा। मेरे विचार से और किसी महात्मा को इतनी बड़ी मान्यता नहीं दिया राम ने, और इतनी ज्यादा आत्मीयता इन्होंने दिखाई वहां। बाल्मीकि ने भी इतने रहस्य की बात कही कि कोई महात्मा राम को छकाने में इतना समर्थ नहीं हुआ, जितने यह हुये।

तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनि नाथा।

विश्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा।।

अस कहि प्रभु सब कथा बखानी।

जेहि जेहि भांति दीन्ह बन रानी।।

दो. - तात बचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ।

मो कहुं दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुण्यप्रभाउ।।

हे मुनियों के नाथ, जैसे किसी की हथेली पर बेर रखा हो, और वह बेर को चारों तरफ से देख रहा हो, ऐसे ही तुम इस सृष्टि को देखते रहते हो। तुम्हें हर कोने-कोने का ज्ञान है। असल में यह किंवदंती है कि बाल्मीकि ने राम के जन्म के पहले राम की कथा लिख दी थी। अब कैसे लिखी, क्या लिखी यह तो पूरा पता लोगों को नहीं चल पाया। कोई कुछ कहता है। कोई कुछ कहता है - इस विषय में। लेकिन इस नाते कि राम ने यहां जो कहा इनसे कि “विश्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा” तुम त्रिकाल दरसी मुनि नाथा” - यह संकेत करता है कि मुनि ने इनके विषय में कुछ कहा था, तभी ऐसी इनकी वाणी निकली। कुछ पोल पट्टी राम की इन्होंने खोली थी। जब राम नहीं थे तब इन्होंने बताया था कि ऐसे-ऐसे यह होंगे। इसलिये गोस्वामी जी ने इस प्रसंग को काफी गाढ़ा कर दिया है। कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि वाल्मीकि का अवतार थे तुलसीदास। नाभादास नाम के महात्मा ने भी ऐसा ही माना है। अपनी पुस्तक भक्तमाल में उन्होंने लिखा है कि - ‘कलि कूटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भए।’ वाल्मीकि ही तुलसी के रूप में आये। वाल्मीकि रामायण की कविता ही तुलसीकृत रामायण में है। तो ऐसा मानते हैं कि उन्हीं के रूप में या उन्हीं की आभा या किसी भी ढंग से उन्हीं का आशीर्वाद ही तुलसीके रूप में आया है। और फिर उन्होंने रचना किया है। गोस्वामी जी ने भी वाल्मीकि को आदर दिया है और उनकी वन्दना की है -

‘वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।।

हां वाल्मीकि रामायण में तुलसीदास की तरह मर्यादा और भावुकता ज्यादा नहीं है। यहाँ तक कि सीता का जब उन्होंने वर्णन किया है तो पूरे अंगो का वर्णन किया

गया है - वाल्मीकि रामायण में। कमर कैसी थी, कैसी उनकी जंघा थी कैसा उसका आकार था। ऐसे, जैसे एक संसारी आदमी लिख दे। और गोस्वामी जी ने जो राम या सीता को दर्शाया है वह बहुत मर्यादित है। राम को भगवान के रूप में दर्शाया है। अलौकिक तत्व दर्शाया है। और परब्रह्म परमात्मा का रूप ले लिया गया है। एक राजा के लड़के को साक्षात् पर ब्रह्म परमात्मा का रूप दिया है। उन्होंने अपनी तरफ से इसमें कोई कोर कसर नहीं लगाई, चाहे कोई माने या न माने। दोनों बातें हैं - कुछ लोग राम को भगवान मानते हैं, ऐसे भी लोग हैं जो नहीं मानते।

तो गोस्वामी जीने वाल्मीकि को बहुत महत्व दिया है। मेरे विचार से कुंभज (अगस्त) ऋषि और वाल्मीकि यह दोनों अद्वितीय महात्माओं में माने जाते हैं। रामायण की दृष्टि से। क्योंकि वाल्मीकि ने रामायण की पूरी गाथा समझी और फिर राम परिवार से संबंधित ऋषि हो गये। वहीं पर सीता को भेजा गया, वहीं पर लव-कुश पैदा हुए। यह बहुत बड़ी कहानी इसके संदर्भ में घुसी पड़ी है। और कुंभज ऋषि महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ थे। ऐसा रामायण में जगह-जगह आता है। इसलिए “बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।” वहाँ ब्रह्मत्व असली धर्म मान लिया गया। यही रैदास ने कर दिखाया। कहने का मतलब यह है कि ऐसी बहुत सी कहानियां हैं - जगह जगह।

जगु पेखन तुम्ह देखनहारे। विधि हरि संभु नचावन हारे॥

तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जानन हारा॥

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं है जाई।

वह तत्व है राम। उसे सब नहीं जान सकते - ‘चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी’। वाल्मीकि जानते हैं इसलिए ब्रह्म समान हो गए। इसका अर्थ हम लोगों को यह लेना चाहिए कि आत्मा सबके अन्दर एक ही है। इसमें भेद नहीं है, चाहे यहाँ से बोले, चाहे रैदास के अंदर से बोले, चाहे सदन कसाई के अंदर से बोले, किसी के भी अंदर से प्रकाशित हो, उसमें कोई भेदभाव, ऊँच-नीच का - जात-पात का है नहीं। स्पेस में कहीं कोई दोष होता है क्या? पोल (आकाश) जैसे निर्लेप होता है, ऐसा निर्लेप और पारदर्शी तत्व है। और उसमें चैतन्यता है ऐसा वह तत्व है - आत्मा, वह तत्व है राम। उसमें योगी रमण करते हैं - ‘रमंते योगिनो - यस्मिन् स रामः।’ तो राम का मतलब ऐसा है। कबीर कहते हैं - राम नाम का मरम है आना। दशरथ सुततिहुं लोक बरवाना।’ तो वह आत्मा सबके अंदर है। कहीं उपाधियों करके आच्छादित हो गई है - दबी पड़ी है। और कहीं कुदरती उपाधियाँ

उसका सहयोग कर देती हैं कि वह चमक जाती है। कहीं-कहीं ऐसी घटना आती है। और अपनी बुद्धि के भरोसे उसे समझ पाना कठिन है। वाल्मीकि जी भील थे - अच्छे तंदुरुस्त थे। फिर बटमार हो गये, डाकू हो गये। घाट को ताक लिये। जो वहाँ से निकले उसी को लूट लेते थे। अपने परिवार का पालन पोषण इसी से करने लगे। फिर सप्त ऋषि आ गये। और इनका कल्याण कर गये। अब हमें देखना चाहिए कि अन्तर्जगत में इसका मतलब क्या है - इस कहानी का अर्थ क्या है? तो नकल से असल मिल जाय। गुड़डा-गुड़डी से असली मिल जाय, इस बात को समझाने के लिए यह कहानियाँ बनाई गई हैं। और यह सब महात्माओं की रचनाएं हैं, पारमार्थिक भाव से बनी हैं। कुछ ऐसी भी कहानियाँ बन जाती हैं कि अभी-अभी बैठे-बैठे बनाई और घटना कभी हुई या कभी नहीं हुई - ऐसा भी होता है। इसलिए इन कहानियों के भावार्थ को उसके तथ्य को पकड़ लेना चाहिए। कहानी के पीछे मत पड़ो। यहां ऐसा अर्थ है कि हम वाल्मीकि की तरह बुरे ही तो हैं। हर आदमी बेइमानी, काम, क्रोध में ही तो फँसा हुआ है। इनसे बड़ा चोर-डाकू कौन हो सकता है। अब इस गलत प्रवृत्ति को सही बनाने के लिए साधना की सप्त भूमिकाएं ही सप्त ऋषि हैं। इनके बगैर उद्धार होगा नहीं। अभी जो प्रवृत्ति हमारी है वह अनर्थ कारी है - यह प्रवृत्ति हमारी न रह जाय - हमारी प्रवृत्ति कल्याणकारी हो जाय। तो यह कैसे होगी? जब हम दिशा अपनी बदल देंगे। साधना की गतिविधि हमको पकड़ में आ जाय। जब इन ऋषियों से मुलाकात हो जाय। हम इनको जानें समझें और फिर चढ़ने लगें एक सीढ़ी दो सीढ़ी, तीन सीढ़ी -ऐसे उन सप्त ऋषियों से भेंट हो जाय। उनके अनुसार चलें, तो भील, आदिवासी क्या, रद्दी से रद्दी भी कल्याण को प्राप्त हो जायेगा। जो भी इन सप्त ऋषि रूप सप्त भूमिकाओं में अनुगत हो जायगा तो फिर भगवान को प्रिय हुए बिना नहीं रह सकता। तो इस तरीके से यहाँ राम का और वाल्मीकि का मिलन होता है। उनसे बता दिया राम ने, जो-जो घटना हुई थी। वह जैसे रिपोर्ट समर्पण कर रहे हों। वाल्मीकि से बता दिया कि राज्याभिषेक का प्रसंग चला, फिर कैकई को यह वरदान दशरथ ने दिया, यह सब कहानी का वर्णन उनके सामने कर दिया। फिर क्या बोले कि-

“तात वचन पुनि मातु हित,

भाइ भरत अस राउ।

मो कहं दरस तुम्हार प्रभु,

सब मम पुण्य प्रभाउ।।”

“यह सब मेरे फायदे के लिए हुआ है। माता कैकेयी ने बड़ी भारी कृपा कर दी है मुझ पर। मुझे इतना अच्छा अवसर दे दिया - जोकि मैं आज आपके दर्शन कर रहा हूँ। इस तरह अगर बाहरी ढंग से अर्थ लेना है तो इस बात की सीख लेना चाहिए कि प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अनुकूल करके देखें।

दो. - पूंछेहु मोहिं किरहहुं कहं, मैं पूंछत सकुचाउं।

जहं न होहु तहं देहु कहि, तुम्हहिं देखावहुं ठाउं॥

सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुं मुसकाने।

बाल्मीकि हंसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिय रस बोरी॥

सुनहु राम अब कहहुँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥

जिनके स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सरित सरि नाना॥

भरहिं निरंतर होंहि न पूरे। तिन्हके हिय तुम कहं गृह छरे॥

स्वागत सत्कार के बाद फिर जब भगवान राम उनसे अपने निवास के योग्य स्थान पूछते हैं, तब वाल्मीकि उनको बताते हैं, कि चौदह स्थान हैं, जहाँ आप रह सकते हैं। चौदह जगह बताई अथवा चौदह बातें कही गईं। जो एक साधक के करने की हैं। जो कर ले उसके अन्दर भगवान आ जाएगा। तो चौदह संख्या के द्वारा गोस्वामी जी सीधा अध्यात्म की तरफ संकेत कर देते हैं। चौदह अध्यात्म होते हैं साधक के अंदर। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और चार अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित अहंकार) यह चौदह अध्यात्म हैं। इन चौदह जगहों में भगवान का वास हो जाय। मन के अंदर आ जाय, बुद्धि के अंदर आ जाय, चित के अंदर आ जाय, अहंकार के अंदर आ जाय, हाथ, पैर, आंख, कान वाक् के अंदर आ जाय। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श जब इन सबके अंदर आ जाय भगवान, तो ये सब अनुकूल हो जायेंगे। और भगवान का हर जगह साम्राज्य हो जायगा। तो एक एक करके उन्होंने बताया है अपने ढंग से। साधक के लिए जो आवश्यक बातें हैं, वे सब इसमें आ गई हैं। आचार-विचार बाहरी-भीतरी सब बातों को ले लिया गया है। गोस्वामी जी ने इसलिए सब मिला जुला दिया है - क्योंकि - आध्यात्मिक बातों को बहुत खोलकर जनरली बताने का विधान नहीं है, कि उनको ओपेन कर दिया जाय। तुलसीदास ने जो कविता किया है इसमें उनका दृष्टिकोण एक ही है कि अंदर की बात ओपेन हो न पावे, और इशारे से हम सारा अध्यात्म बताते चले जायं। बातें वही सब कहें अंदर वाली - गोप्य ज्ञान वाली, आध्यात्मिक चीज को, और कहें हम बाहरी क्रिया, बहारी घटनाओं के रूप में। यह ध्येय लेकर उन्होंने रामायण बनाया था। तो वाल्मीकि यहाँ चौदह

भवन अपनी भाषा में अपनी शैली से राम को बताकर फिर चित्रकूट की तरफ संकेत कर देते हैं, कि चित्रकूट में वास करिए।

अनादि जो आत्मा है, ये चौदह उसके सहायक साधन हैं, जिसे अध्यात्म हम लोग बोलते हैं। उसमें इंद्रियां हैं, अंतःकरण हैं, और बहुत सी बातें हैं। ये सब आत्मा से नजदीक हैं। इनके अच्छे बुरे होने से आत्मा की पहचान होती है। यह शरीर जो दिखाई पड़ रहा है, यह पाँच तत्व का है। और इसके अंदर इंद्रियाँ हैं, अंतःकरण हैं - सूक्ष्म रूप से। और उन इंद्रियों और अंतःकरण के अंदर इनसे भी सूक्ष्म आत्मा है। तो वह आत्मा जो है, इनके द्वारा टच है, और ये सब शरीर में टच हैं। शरीर बहुत स्थूल है, दिखाई पड़ता है। और यह सूक्ष्म शरीर बारीक है, और जो इनमें चेतन का प्रतिबिम्ब है वह और बहुत बारीक है। और उनसे भी बारीक आत्मा है। तो जो आदि आत्मा है सर्वत्र व्यापक है, उस आत्मा को उस परमात्मा को, उस राम को, ये चौदह अध्यात्म ही प्रत्यक्ष करते हैं। आत्म तत्व को यही उजागर करते हैं। इन्हें ही चौदह भुवन कहो, चाहे चौदह भवन कहलो, चाहे चौदह अध्यात्म कह लो। इन्हीं में है सब दारोमदार। ये साधन हैं, आत्मा साध्य है। आत्मा से जुड़े हैं इसलिए इन्हें अध्यात्म कहा जाता है। इन्हीं की साधना बताई जाती है। बाल्मीकि महान योगी थे। गोस्वामी जी ने इस प्रसंग में साध्य जो आत्मतत्व है, उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है और क्लियर कर दिया है कि राम उसी तत्व का नाम है। वह राम इंद्रियों से और अंतःकरण से भजन-साधन करने वाले के हृदय में प्रत्यक्ष होकर निवास करता है। अव्यक्तरूप में तो सदा सर्वत्र है ही, परंतु उसे प्रत्यक्ष करने के लिए मनसा वाचा-कर्मणा समर्पण भाव से भक्ति करनी पड़ेगी। क्योंकि कुछ मिलता नहीं बिना साधन भजन किए।

वाल्मीकि ने बताया कि -

तुमहिं छांडि गति दूसर नाही।

राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥ और

करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहिके उर डेरा॥

तो समर्पण युक्त साधना ही सफलीभूत होती है।

भजन का मतलब है कि हमारे कान सत्संग सुनें, भगवच्चर्चा सुनें। जीभ गुणगान करे, नाम जपे। नेत्र उसको देखें, उसकी लीला हर जगह देखें। पैर तीर्थ में ले जायं, सन्मार्ग में ले जायं। हाथ पुण्य कार्य करें। शरीर से धर्माचरण हो। मन भगवान में लगे ईश्वरीय संकल्प करे। चित्त आत्मचिंतन करे। बुद्धि तत्व-विचार में लगे। और यह

निरंतर चले। ऐसा नहीं कि दस-बीस मिनट रोज का नियम कर लिया और फिर वही संसारी बातों में फंसे रहे। भजन का अर्थ ही है कि उसी में मगन रहे - हटें न उससे बिल्कुल भी। सोवत जागत शरन तुम्हारी - ऐसी रहनी बन जाय। तब फिर भगवान अपनाते हैं, और उस भक्त के चित्त रूपी चित्रकूट में निवास बना लेते हैं।

अन्तर्जगत में इस प्रसंग का ऐसा अर्थ लिया जाय कि साधक के अन्दर ब्रह्मयी वृत्ति बाल्मीकि है। उससे ज्ञान हुआ कि आत्मस्वरूप का साक्षात्कार या आत्मानुभूति अपने अन्दर की बात है। और उसे हासिल करने की प्रक्रिया का ज्ञान हुआ, कि आध्यात्मिक साधना ही सही तरीका है। इस प्रक्रिया की ठोस परिणति चित्रकूट के रूप में, चित्त की कूटस्थ अवस्था में अर्थात् चेते हुए चित की एकाग्र और शान्त स्थिति में होती है। जहाँ सुरसरि धार अर्थात् श्वांस जप की प्रक्रिया धारावाही रूप में निरंतर चला करती है। यह सुरसरि धार, यही धारा प्रवाह श्वांस जप की प्रक्रिया है। मन को कंट्रोल करने वाली अर्थात् मन को दागने वाली मंदाकिनी है। विवेकवान साधक के समक्ष स्पष्ट होता है कि स्थिर चित्त वाले साधक के अन्दर कामनाओं का दहन करना रूप कामद गिरि एक ऐसा पुण्य का पुंज है - ऐसा पुण्य का पहाड़ है जो अन्दर के सारे कलि-मल को नष्ट कर देता है। यह वह शिकारी है, जो शम, दम और नियम रूपी वाणों से पाप रूपी घातक जन्तुओं को मार देता है। मतलब यह है कि जिस साधक के अन्दर कामनाओं का अन्त हो गया है वही शम-दमादि के द्वारा अपने अन्तःकरण के विकारों को समाप्त कर सकता है। इस तरह से यह बातें जो यहां आई हैं सब अन्तर्जगत की बातें हैं - बाहरी वर्णन यह नहीं है। साधक का निर्मल और शान्त चित्त ही चित्रकूट है। वही राम के रहने योग्य स्थान है।

चित्रकूट रघुनन्दन छ। समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥

आवत देखि मुदित मुनि वृंदा। कीन्ह दण्डवत रघुकुल चन्दा॥

जब इस चित्त के अन्दर राम ही राम छा जाता है, तो उस साधक के अन्दर अच्छे-अच्छे विचार आते हैं। मनन चिन्तन सूक्ष्म और गहरा हो जाता है ईश्वरीय विचारधारा का बाहुल्य हो जाता है। यही शुभ विचार और चिन्तन जो आते हैं साधक के अन्दर, इन्हीं के प्रतीक हैं ये ऋषि-मुनि जो राम से मिलने के लिए आते हैं। और इन श्रेष्ठ विचारों-भावों को साधक श्रेयष्कर मानकर अपनाता है - यह राम के द्वारा उन मुनियों का अभिवादन - अभिनन्दन करना है। और राम को देखकर मुनिजन अपने को कृतार्थ मानते हैं - इसका मतलब है कि उन अच्छे विचारों की सार्थकता ऐसे क्रियावान साधक में ही सिद्ध होती है।

दो. - चित्रकूट के बिहंग मृग, बेलिविटप तृन जाति।

पुण्य पुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिनराति॥

तो, 'जब ते आइ रहे रघुनायक। तबते भयउ वन मंगल दायक॥' परमात्मा में मन लगाए हुए साधक के चित्त की अवस्था का संकेत किया गया है। उसके अन्तर्जगत के सारे - अवयव-समस्त छोटी-बड़ी भाव वृत्तियाँ यही सब बिहंग मृग है। ये सब कल्याणकारी बन जाते हैं। उसका अन्तःकरण धर्मक्षेत्र बन जाता है। उसमें अकल्याणकारी गुणधर्मों का अंश भी नहीं रह जाता। पुण्य ही पुण्य का बाहुल्य उस शांत चित्त साधक के अन्दर हो जाता है। बुरे संकल्पों का मन में उठना बंद हो जाता है। अथवा प्रतिकूल विचार भी अनुकूल हो जाते हैं। उस स्थिति में, 'विगत बैर विचरहिं सब संग। करि केहरि कपि कोल कुरंगा।' ऐसा चित्त बन जाता है साधक का, जब वह आत्म चिंतन में लग जाता है। बाहरी चित्रकूट से मतलब नहीं है। अपने मानस में, गोस्वामी जी ने चित्रकूट को चित्त का प्रतीक माना है -

दो.-'रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चाळ।

तुलसी सुमग सनेह बन सिय रघुवीर बिहारु॥'

ये सब गौर करने की बातें हैं। देखिए, जब ईश्वरीय धर्म से अभिभूत भाव रूपी भरत साधक के चित्तरूपी चित्रकूट में आ जाता है, उस समय की स्थिति कैसी बनती है वहाँ कि,

“सचिव विराग विवेक नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू॥

भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥

सकल अंग सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

दो.- जीति मोह महिपाल दल, सहित विवेक भुवाल।

करत अकंटक राजपुर, सुख संपदा सुकाल॥”

अब विचार करो कि ये सारे अवयव जो यहां गिनाए गए हैं - विवेक, वैराग्य, यम-नियम, शांति, सुमति, शुचिता इत्यादि क्या बाहर कहीं होते हैं? किसी को मिले तो नहीं बाहर? ये तो सब अन्तर्जगत के तत्व हैं। इसलिए गोस्वामी जी तो मानस की बात करते हैं। अब यह समझने वालों पर है कि वे इसे किस तरह से लेते हैं। हम बार-बार कहते हैं कि महात्माओं का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी रहता है, वे अलौकिक क्षेत्र में विचरण करते हैं। गोस्वामी जी श्रेष्ठ संत थे। उन्होंने मानस में अवगाहन किया है और उसकी गहराई में डुबकी लगाकर जो अनुभव रूपी रत्न बटोरे हैं, उस रत्नराशि को वे सर्वजन हिताय अपनी वाणी द्वारा लुटाते रहते हैं। तो भाई, लूट सको

तो लूटे, और दरिद्र से बन जाओ शाहंशाह। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं यही एक इलाज है भव भुजंग के जहरीले दंश से बचने का कि अपने चित्त को शांत कर लिया जाय - चित्त कूटस्थ हो जाय - यह चित्रकूट है औषधि।

“भव भुजंग तुलसी नकुल, डसत ज्ञानहरि लेत।

चित्रकूट एक औषधी, चितवत होत सचेत।।”

सो बनू सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।।

महिमा कहिय कवन विधि तासू। सुख सागर जहं कीन्ह निवासू।।

इस तरह से यह चित्त ही चित्रकूट है। जब भगवान इसमें रहने लगे। विवेक, वैराग्य, नियम-संयम सब आ जाएंगे फिर। बस परमात्मा को बसा लिया जाय चित्त में। सबसे बड़ी महिमा वाला तीर्थ है यह चित्रकूट। सब तीर्थों से बढ़कर है यह तीर्थ। कल्याण करने वाला है। पावन से भी अति पावन है। तो अब समझ में आ गया होगा कि चित्रकूट क्या है? और साधक का चित्त कैसे बनता है चित्रकूट? और इसकी इतनी बड़ी महिमा क्यों कही गई है। क्योंकि यह स्थिति अति श्रेष्ठ स्थिति है - साधना की, इसलिए सबके द्वारा वंदनीय है - “शैल हिमांचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते।।’ हाँ तो अब जब राम रह गए चित्रकूट में, स्थायित्व ले लिया, तो फिर वहाँ चारों तरफ खुशी आ गई। सब खुश हैं - अन्दर के अंग-प्रत्यंग जितने हैं। राम के आने से अन्दर के कलुषित कर्म रूपी कोल किरातों में भी बदलाव आ गया। पाप कर्मों की जगह पुण्यकर्म होने लगे। यह सब परिवर्तन साधक में आने लगता है और जब दीर्घकाल तक राम रहेंगे वहाँ - उसके चित्त में - तब तो कल्याण होना ही है। अब जब ईश्वरीय कर्तव्य में मन सहित दसो इंद्रियां लग गई, तो उधर संसारी स्थूल ऐश्वर्य भोगों से विरत हो गई। यही दशरथ का मरण है। दशरथ की मृत्यु के बाद भरत अयोध्या में आ जायेंगे। भरत अन्तर्जगत में भाव को कहते हैं। यह भाव ही अन्दर बाहर के सब अंग-प्रत्यंगों का भरण-पोषण करने वाला है। भाव से भक्ति होती है, भाव से ही भजन होता है, भाव से ही भगवान पकड़ में आता है। कहते हैं - भाववश्य भगवान है। लेकिन यह भाव एक ऐसा तत्व है जो भव को भी पकड़े रहता है। भाव जिधर काम करेगा उधर ही प्रभाव पैदा करेगा। इसलिए इसे अनुकूल रखना पड़ता है। भावना के आवेग में सबको बह जाना पड़ता है। बड़े-बड़े वशिष्ठ भी इसके सामने फेल हो जाते हैं। चित्रकूट की सभा के प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं - भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला

सी।। यहां तक कि स्वयं राम को वहां यह कहकर चुप रह जाना पड़ा कि - 'भरत कहहिं सोइ किए भलाई।'

इसलिए जहां भी भरत पहुंच जाता है, वहाँ फिर उसके सामने किसी की नहीं चलती। चाहे अयोध्या में देख लो, चाहे चित्रकूट में भरत की ही बात हर जगह मानी गई। भरत ही भरत छाया रहा। तो भाव रूपी भरत जब भगवान की तरफ लग जाता है, तो सारी अयोध्या को घसीट कर चित्रकूट में खड़ा कर देता है। न माताओं का कहना माना, न मंत्रियों का, न गुरु का बस एक ही धुन लगी रही, कि - 'देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कइ जरनि न जाय।' ऐसी भावना साधक के अन्दर जब आ जाती है, तो फिर उसके लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस तरह से साधक को भाव-क्षेत्र से जब मदद मिल जाती है तो फिर वह अपने कर्तव्य-धर्म केनिर्वाह में सफलता पाता है। उसका बाहरी व्यवहार क्षेत्र रूपी अयोध्या का राज-काज इस भाव रूपी भरत के सहारे चलता रहेगा और वह साधना के अगले सोपानों में भी बढ़ता जाएगा। इस तरह से भाव का महत्व बहुत बड़ा है। अब आगे के कथानक में भाव स्वरूप भरत का ही विशेष रूप से वर्णन आया है। संसारी नीति-रीतियों और आदर्शों के साथ-साथ भावना प्रधान भक्ति की प्रधानता यहाँ दिखाई गई है। साधकों के मतलब की बात इतनी है इसमें, कि ज्ञान के साथ-साथ भाव को भी लिए रहना है। संसार में रहें, लेकिन संसारी भावनाओं में नहीं बह जाना है। यह सावधानी रखना है। केवल ज्ञान ही ज्ञान से काम नहीं चलता और न सूक्ष्म ही सूक्ष्म से काम बनेगा। साधना शरीर से ही होती है। तन बिन वेद भजन नहीं बरना। इसलिए स्थूल, सूक्ष्म, कारण - तीनों स्तरों पर साधना चलती है। स्थूल शरीर से सेवा, सूक्ष्म से भजन-ध्यान और चिन्तन-मनन, कारण में आत्मिक अनुभूतियाँ। भाव के बिना अनुराग के बिना काम कैसे चलेगा? क्या सेवा होगी सही तरके से? क्या भजन में रस मिलेगा? क्या ध्यान लगेगा? भावना, लब लगन सब एक ही चीज के नाम हैं। इसकी जरूरत पड़ती है, बिना इसके साधना में गति नहीं आती। अयोध्याकाण्ड के आखरी में भरत का प्रसंग विशेष रूप में आया है। यह दूसरे सोपान के अंत में क्यों लिया गया? क्योंकि यहां तक आते-आते साधक के अन्दर ईश्वरीय भाव का आवेश बना रहना स्वाभाविक होता है। इस अवस्था में साधक को विशेष सावधान भी रहना पड़ता है। क्योंकि भाव अगर, भव की तरफ रुख लेने लगे, तो घसीटकर फिर उसी नरक में ले जाएगा - जहां से निकल कर आ गए थे। और भयंकर भवाटवी में भटकते रह जाएंगे। इस तरह पतित होना पड़ेगा। देखिए, कितना भी रोया-धोया भरत, कितना बड़ा समाज का दबाव आया - माता, मंत्री, गुरु,

प्रजाजन सब आए राम को लौटाने। तो भी नहीं लौटे। तो दृढ़ रहना पड़ता है इस अवस्था में। दृढ़ता बनी रही, तो सब मान जाएंगे - सब अनुकूल हो जाएंगे। ईश्वरीय धर्म में सहयोगी भाव बना रहना चाहिए तो साधक का काम बन जाता है। राम ने तो अपने लौटने न लौटने का निर्णय एक तरह से भरत पर ही छोड़ दिया था। भरी सभा में भरत से कह दिया कि -

दो. - मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करुं सोइ आजु।

सत्य संध रघुवर बचन, सुनि भासुखी समाजु॥

इतने पर भी भरत ने क्यों नहीं कहा लौटने के लिए। क्योंकि यह सहयोगी भाव है। अंत तक साधक के अनुकूल ही रहेगा। साधक को भरोसा होना चाहिए अपने भाव पर। उसमें यह आत्म विश्वास आना चाहिए कि भावनाओं में बहकर वह संसारोन्मुख नहीं हो सकता। देखिए, जब भरत के आने की खबर सुनी लक्ष्मण ने, तो आवेश में आकर कितना भला-बुरा कह डाला भरत को। लेकिन राम ने वहाँ पर कितने विश्वास के साथ कहा कि -

‘भरतहिं होइ न राजमद, विधि हरि हर पदपाइ।

कबहुं कि कांजी सीकरन्ह छीर सिंधु बिनसाइ।।’

ऐसा भरोसा होना चाहिए साधक को, अपने ईश्वरीय भाव के ऊपर। लक्ष्मण का मतलब है, साधक का विवेक। तो भाव की परख करने में विवेक भी फेल हो जाता है। इस तरह से भाव रूपी भरत कीमहिमा मानस में विशेष रूप से कही गई है। राम की पादुका लेकर भरत अयोध्या लौट आए। और पादुका सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके राज्य संचालन करते रहे चौदह वर्षों तक। तो इसका मतलब यह समझना चाहिए कि जब तक साधक की साधना पूरी नहीं हो जाती तब तक स्थूल स्तर के कार्य-व्यवहार तटस्थ भाव से करते रहना चाहिए। संसार की आसक्ति से मुक्त रहते हुए।

दो.- सुनि सिख पाइ असीस बडि, गनक बोलि दिन सांघि।

सिंहासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि॥

पादुका परम प्रेम का प्रतीक हैं। राज सिंहासन पर पादुक, बैठाने का अर्थ है कि भगवत प्रेम की प्रतिष्ठा साधक में पूरी तरह से हो चुकी है, और उसे ही सर्वोपरि मान्यता उसके द्वारा दी गई है। और अब तो बस,

“सब मानिअहिं राम के नाते।’

इसी धारणा से सब काम-धाम होते रहना चाहिए। अपने इष्ट के प्रति अपना अनुराग भाव अविचल रूप में बनाए रहना चाहिए और सर्वोच्च महत्व के साथ बना रहना चाहिए। यह भरत के प्रसंग से साधकों को शिक्षा मिलती है। ईश्वरीय प्रेमभाव के रूप में भरत के चरित्र जिस भाग्यवान साधक के अन्दर प्रतिफलित हो जाते हैं, उसकी साधना सफल होती है, और उसका अवश्य कल्याण हो जाता है।

वास्तव में तो - भाव के बिना साधन धर्म की सही धारणा हो नहीं पाती। गोस्वामी जी कहते हैं -

‘जोन होत जगजनम भरत को।

सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

और कहते हैं - होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

तो इस तरह से, भाव रूपी भरत की महिमा बहुत बड़ी है साधन क्षेत्र में।

हरि: ओम